दृष्टि The Vision

MPPSC Series Book-3

मध्य प्रदेश व भारत की राजव्यवस्था, अंतर्राष्ट्रीय संबंध तथा लोक प्रशासन एवं प्रबंधन

MPPSC सहित अधीनस्थ सेवाओं एवं
पीईबी, पीआरटी, कांस्टेबल सहित अन्य
एकदिवसीय परीक्षाओं के लिये संपूर्ण पुस्तक

बिहार PCS

प्रिलिम्स कोर्स

मोड : ऑनलाइन/पेन ड्राइव

कोर्स की विशेषताएँ

- देश के सर्वश्रेष्ठ शिक्षकों की टीम द्वारा अध्यापन।
- कोर्स की वैधता 2 वर्षों तक तथा प्रत्येक वीडियो को 3 बार तक देखने की सुविधा।
- हर कक्षा के अंत में उस टॉपिक से संबंधित पूछे गए और पूछे जा सकने वाले प्रश्नों पर चर्चा।
- वीडियो क्लिप्स और विजुअल्स की मदद से जटिल विषयों की रुचिकर प्रस्तुति।
- कोर्स के अनुसार तैयार की हुई पाठ्यसामग्री।

अधिक जानकारी के लिये 9311406440 नंबर पर कॉल या वाट्सएप करें

ऑनलाइन क्लास के लिये इंस्टॉल करें **Drishti Learning App**

IAS Foundation Course

सामान्य अध्ययन

(प्रिलिम्स + मेन्स)

मोड : ऑनलाइन/पेन ड्राइव

डॉ. विकास दिव्यकीर्ति के निर्देशन में

कोर्स की विशेषताएँ

- डॉ. विकास दिव्यकीर्ति तथा देश के सर्वश्रेष्ठ शिक्षकों की टीम द्वारा अध्यापन।
- डॉ. विकास दिव्यकीर्ति द्वारा एथिक्स (संपूर्ण), राजव्यवस्था (व्यापक अंश) और समाज (सैद्धांतिक पक्ष) का अध्यापन।
- कुल 1200+ घंटों की 500+ कक्षाएँ।
- प्रत्येक कक्षा को 3 बार तक देखने की सुविधा। कोर्स की वैधता बैच शुरू होने से 3 वर्षों तक।
- संशय निवारण के लिये एकेडमिक सपोर्ट टीम की सुविधा उपलब्ध। नियमित रूप से डाउट क्लासेज़ तथा ऑनलाइन मीटिंग्स की भी व्यवस्था।

एडमिशन प्रारंभ | पहले 500 विद्यार्थियों के लिये 25% की छूट

अतिरिक्त जानकारी के लिये 9311406442 नंबर पर कॉल करें या वाट्सएप करें

इंस्टॉलमेंट्स पर भी उपलब्ध ! लॉग-इन कीजिये : www.drishtiIAS.com

ऑनलाइन क्लास के लिये अपने एंड्रॉयड फोन पर इंस्टॉल करें **Drishti Learning App**

MPPSC Series : Book-3

मध्य प्रदेश व भारत की राजव्यवस्था, अंतर्राष्ट्रीय संबंध तथा लोक प्रशासन एवं प्रबंधन

दृष्टि पब्लिकेशन्स

641, प्रथम तल, डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-47532596, 87501 87501

Website: www.drishtiias.com
E-mail : booksteam@groupdrishti.com

शीर्षक : मध्य प्रदेश व भारत की राजव्यवस्था, अंतर्राष्ट्रीय संबंध तथा लोक प्रशासन एवं प्रबंधन

लेखक : टीम दृष्टि

संस्करण- मार्च 2021

मूल्य : ₹ 480

ISBN : 978-93-90955-08-4

प्रकाशक

VDK Publications Pvt. Ltd.
(दृष्टि पब्लिकेशन्स)
641, प्रथम तल,
डॉ. मुखर्जी नगर,
दिल्ली-110009

विधिक घोषणाएँ

- इस पुस्तक में प्रकाशित सूचनाएँ, समाचार, ज्ञान एवं तथ्य पूरी तरह से सत्यापित किये गए हैं। फिर भी, यदि कोई जानकारी या तथ्य गलत प्रकाशित हो गया हो तो प्रकाशक, संपादक या मुद्रक उससे किसी व्यक्ति-विशेष या संस्था को पहुँची क्षति के लिये ज़िम्मेदार नहीं है।
- हम विश्वास करते हैं कि इस पुस्तक में छपी सामग्री लेखकों द्वारा मौलिक रूप से लिखी गई है। अगर कॉपीराइट उल्लंघन का कोई मामला सामने आता है तो प्रकाशक को ज़िम्मेदार नहीं ठहराया जाएगा।
- सभी विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायिक क्षेत्र में होगा।
- **© कॉपीराइट:** VDK Publications Pvt. Ltd. (दृष्टि पब्लिकेशन्स), सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन के किसी भी अंश का प्रकाशन अथवा उपयोग, प्रतिलिपीकरण, ऐसे यंत्र में भंडारण जिससे इसे पुन: प्राप्त किया जा सकता हो या स्थानांतरण, किसी भी रूप में या किसी भी विधि से (इलेक्ट्रॉनिक, यांत्रिक, फोटो-प्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग या किसी अन्य प्रकार से) प्रकाशक की पूर्वानुमति के बिना नहीं किया जा सकता।
- एम.पी. प्रिंटर्स, बी-220, फेज़-2, नोएडा (उत्तर प्रदेश) से मुद्रित।

दो शब्द...

प्रिय पाठको,

अपनी स्थापना के समय से ही हमारा उद्देश्य यही रहा है कि हम आप पाठकों को श्रेष्ठ गुणवत्ता की पाठ्य-सामग्री उपलब्ध करा सकें। इसी संकल्प के साथ हम अपनी यात्रा में बढ़ते गए। हमें इस बात की खुशी है कि इस यात्रा में आप पाठकों का अपार स्नेह प्राप्त हुआ, जिससे हमें और आगे बढ़ने तथा नए प्रयोगों को आज़माने का हौसला मिला। हमारे विभिन्न प्लेटफॉर्म्स पर विद्यार्थी हमसे संवाद करते हैं और अपनी बात हम तक पहुँचाते हैं। हम इन संवाद पर गंभीरता से विचार करते हैं तथा हमारी कोशिश रहती है कि आपके अधिक से अधिक जायज़ सुझावों को मूर्त रूप प्रदान कर दिया जाए। इसी सिलसिले में लंबे समय से यह मांग हमारे पास आ रही थी कि हम 'मध्य प्रदेश राज्य सेवा (प्रारंभिक एवं मुख्य) परीक्षा' (MPPSC) के लिये भी पुस्तकों का प्रकाशन करें। हमारी भी इस बात को लेकर सहमति थी कि विद्यार्थियों के बीच श्रेष्ठ कंटेंट उपलब्ध होना ही चाहिये। हम जब भी कोई नई शुरुआत करते हैं तो हमारी कोशिश यही रहती है कि हम श्रेष्ठ गुणवत्ता की पाठ्य-सामग्री के अपने संकल्प से किसी भी कीमत पर समझौता न करें, इसलिये इस प्रस्ताव पर हम लंबे समय से काम कर रहे थे, लेकिन अनेक चरणों से गुज़रने के बाद जब हम इस बात को लेकर आश्वस्त हो गए कि ये पुस्तकें आपके संघर्ष को आसान करने में सक्षम हैं, तब हमने इनके प्रकाशन का निर्णय लिया।

अब, हम आपके समक्ष एक नई पुस्तक सीरीज़ के साथ उपस्थित हैं, जो न केवल 'मध्य प्रदेश राज्य सेवा (प्रारंभिक एवं मुख्य) परीक्षा' को संपूर्णता से कवर करती है बल्कि यहाँ की अधीनस्थ/एकदिवसीय परीक्षाओं के लिये भी समान रूप से उपयोगी है। यह कुल **आठ पुस्तकों** की एक सीरीज़ है, जिसकी तीसरी कड़ी के रूप में **'मध्य प्रदेश व भारत की राजव्यवस्था, अंतर्राष्ट्रीय संबंध तथा लोक प्रशासन एवं प्रबंधन'** की पुस्तक अब आपके हाथों में है। विशिष्ट रूप से इस पुस्तक की चर्चा के पूर्व हम आपको संक्षेप में इस सीरीज़ की कुछ विशेषताओं से अवगत कराना चाहेंगे, ताकि आप इसकी उपयोगिता और अपनी तैयारी में इसके महत्त्व का ठीक-ठीक अनुमान कर सकें।

यह सीरीज़ मध्य प्रदेश राज्य सेवा परीक्षा के संपूर्ण पाठ्यक्रम (प्रारंभिक एवं मुख्य परीक्षा) को तो कवर करती ही है, साथ ही हमने इसमें उन अतिरिक्त तथ्यों एवं विषय-वस्तुओं को भी शामिल कर दिया है जो मध्य प्रदेश की प्रमुख अधीनस्थ/एकदिवसीय परीक्षाओं के लिये काफी महत्त्वपूर्ण हैं। इससे आपकी बिना अतिरिक्त मेहनत के अन्य परीक्षाओं की भी तैयारी हो जाएगी और MPPSC पर मुख्य फोकस भी बना रहेगा। इस सीरीज़ की प्रत्येक पुस्तक लगभग 400-600 पृष्ठों की है। प्रथमद्रष्टया आपको यह आकार बड़ा लग सकता है लेकिन ऐसा इसलिये है ताकि एक ही स्रोत से आपकी पूरी तैयारी हो सके। जब आप इसे पढ़ेंगे तो इस बात को महसूस कर पाएंगे।

अब, प्रस्तुत पुस्तक की बात करें तो यह मध्य प्रदेश व भारत की राजव्यवस्था, अंतर्राष्ट्रीय संबध तथा लोक प्रशासन एवं प्रबंधन के संपूर्ण पाठ्यक्रम को कवर करती है। विशेषज्ञों की हमारी टीम ने इस विषय से संबंधित सभी महत्त्वपूर्ण मानक पुस्तकों का अध्ययन कर आयोग की मांग के अनुरूप उसके सार को मध्य प्रदेश के विशेष संदर्भ में प्रस्तुत किया है। हमारी टीम ने अब तक पूछे गए प्रश्नों का भी गंभीरता से अवलोकन किया है तथा पाठ्य-सामग्री को इसी अनुरूप ढाला है। इस पुस्तक के प्रत्येक अध्याय के अंत में विगत वर्षों में पूछे गए प्रश्नों के साथ-साथ भविष्य के लिये संभावित प्रश्नों का भी संकलन किया गया है। इससे आपको न केवल परीक्षा की प्रकृति का अनुमान हो सकेगा बल्कि आप पढ़े हुए पाठ को कम समय में रिवाइज़ भी कर सकते हैं। तथ्यों की सटीकता के लिये हमारी टीम ने कई चरणों में इसे जाँचा है तथा इस बात को सुनिश्चित किया है कि पुस्तक तथ्यात्मक त्रुटियों से मुक्त हो। भाषा और प्रस्तुतीकरण के स्तर पर भी हमारी कोशिश यही रही है कि संप्रेषण सहज और बोधगम्य हो।

अंत में यह कि अब यह पुस्तक आपके हाथों में है। इसके अंतिम निर्णयकर्त्ता भी आप ही हैं। आप इसे पढ़ें और अपनी राय हमें बताएँ। इससे हमें और बेहतर करने की प्रेरणा मिलती है। **आप अपनी राय हमें 8130392355 नंबर पर वाट्सएप मैसेज के माध्यम से भेज सकते हैं।**

साभार,

प्रधान संपादक

दृष्टि पब्लिकेशन्स

अनुक्रम

खंड-A : मध्य प्रदेश व भारत की राजव्यवस्था

1. राजव्यवस्था का परिचय ..... 3 – 8
2. संविधान : एक संक्षिप्त परिचय ..... 9 – 21
3. संविधान की प्रस्तावना ..... 22 – 24
4. संघ और उसका राज्यक्षेत्र ..... 25 – 40
5. नागरिकता ..... 41 – 47
6. मूल अधिकार ..... 48 – 82
7. राज्य के नीति-निदेशक सिद्धांत ..... 83 – 88
8. मूल कर्त्तव्य ..... 89 – 91
9. संघ की कार्यपालिका ..... 92 – 110
10. राज्य की कार्यपालिका ..... 111 – 128
11. संघ की विधायिका ..... 129 – 164
12. राज्य विधायिका ..... 165 – 180
13. न्यायपालिका ..... 181 – 215
14. संघवाद एवं केंद्र-राज्य संबंध ..... 216 – 233
15. विकेंद्रीकरण एवं लोकतांत्रिक शासन में जनभागीदारी ..... 234 – 259
16. आपातकालीन उपबंध ..... 260 – 265
17. संविधान संशोधन ..... 266 – 271
18. लोकतंत्र की कार्यप्रणाली ..... 272 – 283
19. पारदर्शिता, जवाबदेही और अधिकार ..... 284 – 306
20. लोक सेवाएँ ..... 307 – 325
21. लोक व्यय एवं लेखा ..... 326 – 335
22. स्वयं सहायता समूह ..... 336 – 340
23. मीडिया की भूमिका एवं समस्याएँ : इलेक्ट्रॉनिक, प्रिंट एवं सोशल मीडिया ..... 341 – 345
24. राजनीतिक गत्यात्मकताएँ ..... 346 – 354
25. भारतीय राजनीतिक विचारक ..... 355 – 374
26. राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक संवैधानिक/सांविधिक संस्थाएँ ..... 375 – 396

खंड-B : अंतर्राष्ट्रीय संबंध

27. भारत का अन्य देशों से संबंध तथा प्रमुख संगठन एवं संस्थाएँ ..... 3 – 38

खंड-C : लोक प्रशासन एवं प्रबंधन

28. लोक प्रशासन ..... 3 – 14
29. निजी प्रशासन ..... 15 – 17
30. नवीन लोक प्रशासन ..... 18 – 21
31. लोक प्रशासन के सिद्धांत ..... 22 – 35
32. प्रशासनिक अवधारणाएँ ..... 36 – 42
33. संगठन एवं उनके सिद्धांत ..... 43 – 60
34. प्रबंधन एवं नवीन लोक प्रबंधन ..... 61 – 68
35. विकास प्रशासन एवं तुलनात्मक लोक प्रशासन ..... 69 – 76
36. भारत में प्रशासन पर नियंत्रण ..... 77 – 85
37. लोक प्रशासन के अन्य आयाम ..... 86 – 106

खंड A

मध्य प्रदेश व भारत की राजव्यवस्था

1 राजव्यवस्था का परिचय
(Introduction of Polity)

राज्य, राज्य के तत्त्व (State, Elements of State)

मानव सभ्यता के विकास का इतिहास राज्य के अस्तित्व के साथ जुड़ा है। कालांतर में इसके रूप में बदलाव में आता रहा और यह एक सर्वव्यापी संस्था बन गई है।

राज्य राज्यव्यवस्था से जुड़ी प्राथमिक एवं अमूर्त अवधारणा है। यूँ तो 'राज्य' शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रांतों, जैसे- मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ आदि को सूचित करने के लिये होता है परंतु उसका वास्तविक अर्थ समाज की 'राजनीतिक संरचना' से होता है। उदाहरणार्थ भारत सरकार, राज्य सरकारें, न्यायपालिका, विधायिका, नौकरशाही से जुड़े अधिकारी आदि की समग्र संरचना ही 'राज्य' कहलाता है।

किसी भी 'राज्य' में चार तत्त्व अनिवार्य रूप से विद्यमान होते हैं–**भू-भाग, जनसंख्या, सरकार और संप्रभुता।** इनमें से किसी भी तत्त्व का अभाव होने पर 'राज्य' की अवधारणा निरर्थक हो जाएगी। राज्य के लिये एक निश्चित **भू-भाग** का होना अति आवश्यक है। राज्य के पास एक निश्चित भूमि होनी चाहिये। **जनसंख्या** के बिना एक राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। राज्य की स्थापना में जनसंख्या एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

सरकार नामक तत्त्व का जहाँ तक प्रश्न है तो यह राज्य की व्यावहारिक एवं मूर्त अभिव्यक्ति है। **संप्रभुता** राज्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

प्रमुख शासन प्रणालियाँ (Major Governance Systems)

सामान्यत: विभिन्न देशों की शासन प्रणालियों में अंतर उनकी सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक एवं राजनीतिक पृष्ठभूमि के कारण होता है। विश्व की प्रमुख शासन प्रणालियों का वर्गीकरण निम्नलिखित आधार पर किया जा सकता है-

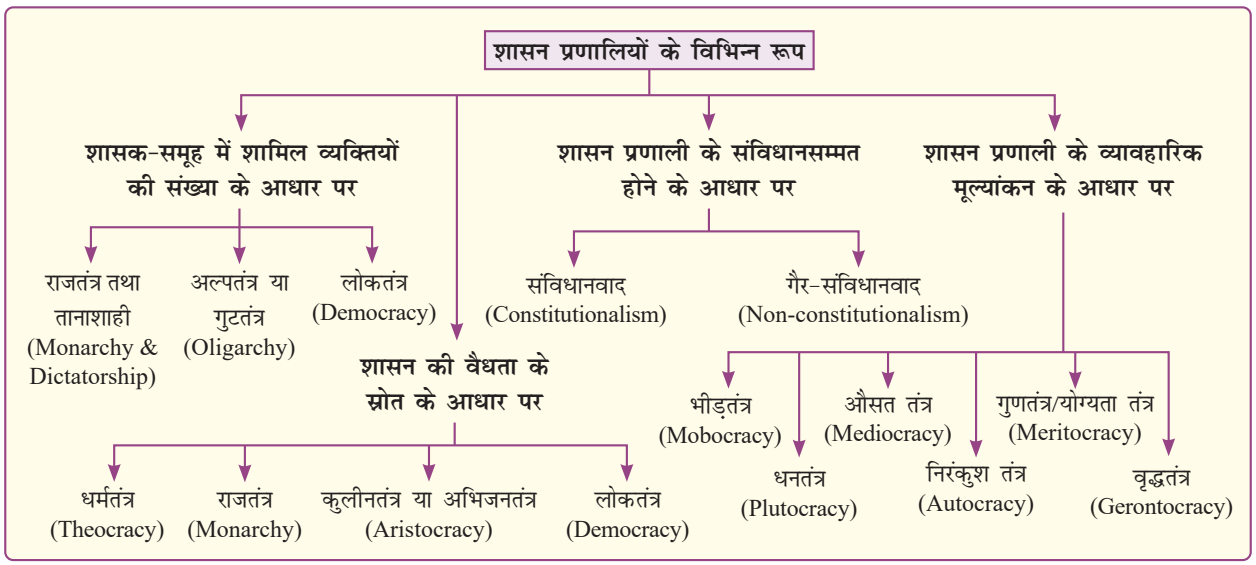

यहाँ एक विचारणीय प्रश्न यह है कि भारतीय राज्यव्यवस्था शासन की इन विभिन्न प्रणालियों में से किसके नज़दीक है? इसे निम्न प्रकार से समझा जा सकता है-

- सैद्धांतिक तौर पर भारत में **लोकतंत्र** है परंतु अधिकांश जनता के जागरूक न होने और गरीब होने के कारण सत्ता की प्रतिस्पर्द्धा सामान्यत: दो-तीन छोटे-छोटे गुटों के बीच होती है, अत: कुछ लोग इसे **अल्पतंत्र या गुटतंत्र** कहते हैं। वंशवाद की मानसिकता के लक्षण के आधार पर कुछ लोगों के अनुसार यह लोकतंत्र भीतर से **राजतंत्र** के नज़दीक है, जैसे–केंद्र में नेहरू और गांधी परिवार, कश्मीर में अब्दुल्ला परिवार, महाराष्ट्र में ठाकरे परिवार, तमिलनाडु में करुणानिधि परिवार आदि। कुछ परिवारों का पीढ़ी-दर-पीढ़ी राजनीति में सफल होते जाना **कुलीनतंत्र** की मानसिकता का ही उदाहरण है। यदि सरकार की वैधता धार्मिक ग्रंथों पर टिकी होती है तथा चुनाव प्रचार में धार्मिक नेताओं की बड़ी भूमिका होती है तो ऐसी शासन व्यवस्था **धर्मतंत्र** कहलाती है। मोटे तौर पर तिब्बत व वेटिकन सिटी की शासन प्रणालियों को इस वर्ग में रखा जा सकता है।

मध्य प्रदेश पीसीएस (MPPCS) तथा अधीनस्थ सेवाओं में पूछे गए एवं संभावित प्रश्न

1. राज्य के लिये अनिवार्य तत्त्व है/हैं-
   (a) भू-भाग
   (b) संप्रभुता
   (c) सरकार
   (d) जनसंख्या के साथ-साथ उपरोक्त तीनों
2. राज्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है-
   (a) भू-भाग (b) सरकार
   (c) जनसंख्या (d) संप्रभुता
3. निम्न कथनों पर विचार कीजिये-
   1. सरकार राज्य की व्यावहारिक अभिव्यक्ति है।
   2. राज्य से अभिप्राय किसी समाज की राजनीतिक संरचना से है।
   3. राज्य एक मूर्त धारणा है।

   उपरोक्त कथनों में से कौन-सा/से सत्य है/हैं?
   (a) केवल 1 और 2 (b) केवल 2 और 3
   (c) केवल 1 और 3 (d) 1, 2 और 3
4. कौन-सी व्यवस्था 'अविनाशी राज्यों का अविनाशी संगठन' कही जाती है?
   (a) परिसंघात्मक व्यवस्था (b) एकात्मक व्यवस्था
   (c) संघात्मक व्यवस्था (d) इनमें से कोई नहीं।
5. 'अविनाशी राज्यों का विनाशी संगठन' कही जाने वाली व्यवस्था है-
   (a) परिसंघात्मक व्यवस्था (b) संघात्मक व्यवस्था
   (c) एकात्मक व्यवस्था (d) इनमें से कोई नहीं।
6. वह राजनीतिक प्रणाली जिसमें प्रांतों या कार्यकारी इकाइयों का निर्माण संघ की इच्छा पर निर्भर है-
   (a) संघात्मक व्यवस्था (b) परिसंघात्मक व्यवस्था
   (c) एकात्मक व्यवस्था (d) उपरोक्त सभी।
7. निम्न में से कौन-सी प्रत्यक्ष लोकतंत्र की विशेषताएँ हैं?
   (a) पहल (b) जनमत संग्रह
   (c) वापस बुलाने का अधिकार (d) उपरोक्त सभी।
8. निम्न में से कौन-सा अध्यक्षीय प्रणाली का गुण नहीं है?
   (a) विशेषज्ञों की भूमिका
   (b) शक्ति पृथक्करण तथा नियंत्रण व संतुलन सही ढंग से पाया जाना
   (c) त्वरित निर्णय की क्षमता
   (d) दैनिक उत्तरदायित्व

उत्तरमाला

1. (d)	2. (d)	3. (a)	4. (c)	5. (a)
6. (c)	7. (d)	8. (d)		

मध्य प्रदेश पीसीएस (MPPCS) मुख्य परीक्षा में पूछे गए एवं संभावित प्रश्न

1. भारत में संसदीय लोकतंत्र को सुदृढ़ करने हेतु कौन-कौन से आवश्यक शर्तें हैं? स्पष्ट कीजिये। **(100 शब्द)** **MPPCS (Mains), 2018**
2. भारत के कोई दो प्रमुख राजनीतिक दलों की विचारधारा और कार्यक्रम बताइये। **(100 शब्द)** **MPPCS (Mains), 2018**
3. "क्या शनैः-शनैः भारत द्विदलीय प्रणाली की ओर बढ़ रहा है?" **(100 शब्द)** **MPPCS (Mains), 2014**
4. संसदीय और अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियों की तुलना करें। इनमें से कौन-सी ज़्यादा बेहतरीन हैं? अपने उत्तर के पक्ष में प्रमाण दें। **(100 शब्द)**
5. राज्य क्या है? **(10-20 शब्द)**
6. राज्य के आवश्यक तत्त्व **(10-20 शब्द)**
7. बहुदलीय लोकतंत्र **(50 शब्द)**
8. द्वि-गठबंधनीय व्यवस्था **(50 शब्द)**

2 संविधान : एक संक्षिप्त परिचय
(Constitution : A Brief Introduction)

संविधान नियमों-उपनियमों का एक ऐसा लिखित दस्तावेज़ होता है, जिसके अनुसार सरकार का संचालन किया जाता है। यह देश की राजनीतिक व्यवस्था का बुनियादी ढाँचा निर्धारित करता है। संविधान राज्य की विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की स्थापना, उनकी शक्तियों एवं दायित्वों का सीमांकन तथा जनता और राज्य के मध्य संबंधों को विनियमित करता है।

प्रत्येक संविधान उस देश के आदर्शों, उद्देश्यों व मूल्यों का दर्पण होता है। संवैधानिक विधि देश की सर्वोच्च विधि होती है तथा सभी अन्य विधियाँ इसी पर आधारित होती हैं। भारतीय संविधान एक जड़ दस्तावेज़ नहीं है, बल्कि यह परिवर्तनशील है, जिसमें ज़रूरत पड़ने पर संशोधन भी किया जा सकता है, जिससे इसकी प्रासंगिकता बनी रहती है।

महत्त्वपूर्ण अधिनियम

भारतीय शासन अधिनियम, 1919	भारत शासन अधिनियम, 1935
❑ भारतीय शासन अधिनियम, 1919 को मॉण्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार भी कहा जाता है। मॉण्टेग्यू भारत के राज्य सचिव थे, जबकि चेम्सफोर्ड भारत के वायसराय थे। ❑ इस अधिनियम में सर्वप्रथम 'उत्तरदायी शासन' शब्द का स्पष्ट प्रयोग किया गया था। ❑ इस अधिनियम के द्वारा केंद्र में द्विसंगठनात्मक व्यवस्था स्थापित की गई। ❑ इस अधिनियम में सांप्रदायिक आधार पर सिक्खों, भारतीय ईसाईयों, आंग्ल-भारतीयों और यूरोपीयों के लिये भी पृथक् निर्वाचन के सिद्धांत को विस्तारित किया। ❑ भारतीय शासन अधिनियम, 1919 द्वारा केंद्रीय और प्रांतीय विषयों की सूची को पहचान कर एवं उन्हें पृथक् कर राज्यों पर केंद्रीय नियंत्रण कम किया गया। ❑ इस अधिनियम में द्वैध शासन पद्धति को लागू किया गया जिसके अंतर्गत भारतीयों को अपनी सरकार स्वयं चलाने में प्रशिक्षण दिया गया।	❑ भारत के लिये तैयार संवैधानिक प्रस्तावों में यह अंतिम और सबसे बड़ा दस्तावेज था। इसमें कुल 323 अनुच्छेद 10 अनुसूचियों एवं 14 भाग थे। वर्तमान भारतीय संविधान पर इस अधिनियम का सर्वाधिक प्रभाव है। ❑ इस अधिनियम के द्वारा अखिल भारतीय संघ की स्थापना की गई, जिसमें राज्य और रियासतों को एक इकाई की तरह माना गया। ❑ इसने प्रांतों में द्वैध शासन व्यवस्था समाप्त कर दी तथा केंद्र में द्वैध शासन प्रणाली आरंभ किया गया। ❑ 11 प्रांतों में विधान सभा का गठन किया गया। 6 प्रांतों में द्विसदनीय विधानमंडल की स्थापना की गई। ❑ इस अधिनिम द्वारा संघीय लोक सेवा आयोग की स्थापना के साथ-साथ राज्य लोक सेवा आयोग की स्थापना भी की गई। ❑ इसके तहत 1937 में दिल्ली में संघीय न्यायालय की स्थापना की गई।

संविधान सभा और संविधान निर्माण समिति (Constituent Assembly and Constitution Making Committee)

कैबिनेट मिशन *(Cabinet Mission)*

ब्रिटेन में 1945 में हुए आम चुनाव में उदारवादी दृष्टिकोण वाली **लेबर पार्टी** के **सर क्लीमेंट एटली** प्रधानमंत्री बने। शांतिपूर्ण तरीके से भारत में सत्ता हस्तांतरण तथा संवैधानिक मामलों के समाधान हेतु मार्च 1946 में एक तीन सदस्यीय मिशन भारत भेजा गया, जिसके **सर स्टैफर्ड क्रिप्स, लार्ड पैथिक लॉरेंस** और **ए.वी. अलेक्जेंडर सदस्य** थे। इसे कैबिनेट मिशन कहा गया। मिशन ने भारत में तत्काल एक अंतरिम सरकार की स्थापना एवं संविधान निर्माण के लिये एक योजना प्रस्तुत की।

अंतरिम सरकार का गठन *(Formation of Interim Government)*

कैबिनेट मिशन द्वारा प्रस्तुत योजना के तहत 24 अगस्त, 1946 को अंतरिम सरकार की घोषणा की गई और 2 सितंबर, 1946 को पंडित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में अंतरिम सरकार गठित हुई, जिसमें मुस्लिम लीग की भागीदारी नहीं थी परंतु 26 अक्टूबर, 1946 को मुस्लिम लीग सरकार में शामिल हो गई। परिषद में शामिल तीन सदस्यों- सैयद अली जहीर, शरच्चंद्र बोस, सर शाफत अहमद खाँ को हटाकर लीग के पाँच प्रतिनिधियों को इसमें शामिल किया गया। **यहाँ मुस्लिम लीग के प्रवेश का उद्देश्य परिषद् के भीतर रहकर पाकिस्तान के लिये लड़ना था।**

3 संविधान की प्रस्तावना
(Preamble of the Constitution)

प्रस्तावना या उद्देशिका किसी संविधान के दर्शन को सार रूप में प्रस्तुत करने वाली संक्षिप्त अभिव्यक्ति होती है। सर्वप्रथम अमेरिकी संविधान निर्माताओं ने अपने संविधान में प्रस्तावना को शामिल किया था। भारतीय संविधान की प्रस्तावना अमेरिकी संविधान से प्रेरित है। संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रस्तावना का प्रथम वाक्य 'हम संयुक्त राज्य अमेरिका के लोग' से प्रारंभ होता है। इसके अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रस्तावना में आदर्श संघ बनाने के लिये न्याय स्थापित करने का उल्लेख भी मिलता है। इसके बाद जैसे-जैसे विभिन्न देशों ने अपने संविधान का निर्माण किया, उनमें से कई देशों ने प्रस्तावना को महत्त्वपूर्ण समझकर अपने संविधान का हिस्सा बनाया। भारतीय संविधान सभा ने 22 जनवरी, 1947 को नेहरू के उद्देश्य प्रस्ताव को स्वीकार किया। इसी उद्देश्य प्रस्ताव का विकसित रूप हमारे संविधान की प्रस्तावना (उद्देशिका) है। उद्देश्य प्रस्ताव और प्रस्तावना मिलकर संविधान के दर्शन को मूर्त रूप प्रदान करते हैं। भारतीय संविधान की प्रस्तावना का संबंध इसके उद्देश्यों, लक्ष्यों तथा इसके आधारभूत सिद्धांतों से है।

बेरूबारी संघवाद (1960) में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि प्रस्तावना संविधान का भाग नहीं है। यद्यपि बाद में केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य (1973) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट किया है कि प्रस्तावना संविधान का अंग है क्योंकि जब अन्य सभी उपबंध अधिनियमित किये जा चुके थे, उसके पश्चात् प्रस्तावना को अलग से पारित किया गया। संविधान के अन्य भागों की तरह प्रस्तावना में भी संशोधन संभव है, बशर्ते वह आधारभूत ढाँचे को क्षति न पहुँचाता हो।

प्रस्तावना की विषयवस्तु (Content of the Preamble)

1976 में 42वें संविधान संशोधन के माध्यम से प्रस्तावना में तीन शब्द– **समाजवादी (Socialist)**, **पंथनिरपेक्ष (Secular)** तथा **अखंडता (Integrity)** जोड़े गए थे। इन शब्दों के जुड़ने के बाद प्रस्तावना का वर्तमान रूप इस प्रकार है–

प्रस्तावना (उद्देशिका)

हम, भारत के लोग, भारत को एक **संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न, समाजवादी, पंथनिरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य** बनाने के लिये तथा उसके समस्त नागरिकों को

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक **न्याय**,

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की **स्वतंत्रता**,

प्रतिष्ठा और अवसर की **समता**

प्राप्त कराने के लिये तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा तथा राष्ट्र की एकता और अखंडता सुनिश्चित करने वाली **बंधुता** बढ़ाने के लिये दृढ़ संकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा में** आज तारीख 26 नवंबर, 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, संवत् दो हजार छह विक्रमी) को **एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।**

प्रस्तावना की उपयोगिता (Utility of the Preamble)

भारतीय संविधान की प्रस्तावना को **संविधान की आत्मा** कहा गया है। संविधान की प्रस्तावना संविधान की व्याख्या का आधार प्रस्तुत करती है। यह संविधान का दर्पण है, जिसमें पूरे संविधान की तस्वीर दिखाई पड़ती है। इसकी उपयोगिता यह है कि यह संविधान के स्रोत, राजव्यवस्था की प्रकृति एवं संविधान के उद्देश्यों से परिचय कराती है। इसके साथ ही संविधान के अर्थ निर्धारण एवं ऐतिहासिक स्रोत के रूप में भी प्रस्तावना उपयोगी है। संविधान की प्रस्तावना में प्रयुक्त वाक्यांश 'हम भारत के लोग' प्रमाणित करता है कि भारतीय संविधान का स्रोत भारतीय जनता है। यह भारतीय राजव्यवस्था के लोकतांत्रिक पक्ष को भी प्रस्तुत करता है।

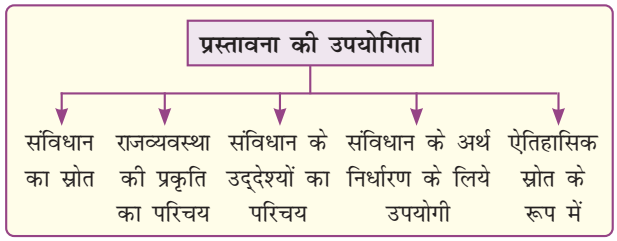

प्रस्तावना के मुख्य तत्त्व *(Key Elements of the Preamble)*

भारतीय राजव्यवस्था की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिये प्रस्तावना में पाँच शब्द विशेष महत्त्व के हैं–

1. **संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न:** इसका अर्थ है कि अपने आंतरिक और बाह्य मामलों में निर्णय लेने के लिये भारत संपूर्ण शक्ति रखता है और किसी भी विदेशी शक्ति को इसमें हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। जहाँ तक राष्ट्रमंडल (Commonwelth) का प्रश्न है तो भारत उसे 'स्वाधीन राष्ट्रों के एक संगठन' के रूप में देखता है, न कि ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के रूप में। भारत ब्रिटिश सम्राट को राष्ट्रमंडल के अध्यक्ष के रूप में सिर्फ प्रतीकात्मक तौर पर स्वीकार करता है।
2. **समाजवादी:** मूल प्रस्तावना में समाजवादी शब्द का उल्लेख नहीं था। यह शब्द प्रस्तावना में 42वें संशोधन, 1976 द्वारा जोड़ा गया। भारत आर्थिक न्याय की धारणा को लोकतंत्र के साथ मिलाकर चलता है, इस दृष्टि से इसे **लोकतांत्रिक समाजवाद** कहा जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय ने **डी.एस. नकारा बनाम भारत संघ (1982) मामले** में स्पष्ट किया कि "भारतीय समाजवाद गांधीवाद और मार्क्सवाद का अनोखा मिश्रण है जो निश्चित रूप से गांधीवाद की ओर झुका हुआ है।" भारतीय समाजवाद अर्थव्यवस्था के स्तर पर निजी उद्यमशीलता और सरकारी नियंत्रण दोनों को साथ-साथ रखता है।

4 संघ और उसका राज्यक्षेत्र (Union and it's Territory)

वर्तमान में भारत में 28 राज्य तथा 8 संघ राज्यक्षेत्र हैं। भारतीय संविधान के भाग-1 (अनुच्छेद 1 से 4) में इस प्रावधान का उल्लेख किया गया है कि भारत राज्यक्षेत्र (Indian Territory) में किस प्रकार की इकाइयाँ होंगी तथा उनका भारत संघ (Union of India) के साथ क्या संबंध होगा। इस भाग को सही रूप में समझने के लिये हम सभी अनुच्छेदों पर क्रमशः विचार करेंगे।

संघ व उसके राज्यक्षेत्र या भारत राज्य की प्रकृति से संबंधित अनुच्छेद (Articles Related to the Union and its Territory or Nature of India State)

संघ व उनके राज्यक्षेत्र से संबंधित या भारत राज्य की प्रकृति से संबंधित अनुच्छेद निम्नलिखित हैं-

अनुच्छेद 1 *(Article 1)*

- संविधान के अनुच्छेद 1(1) में कहा गया है कि भारत अर्थात् इंडिया राज्यों का संघ होगा (India, that is Bharat shall be a Union of States)। संविधान सभा में देश के नाम के मुद्दे पर काफी चर्चा हुई थी। जो लोग भारत की प्राचीन परंपरा और संस्कृति पर बल दे रहे थे, उनकी इच्छा थी कि देश का नाम 'भारत' होना चाहिये। दूसरी ओर कुछ नेताओं की राय थी कि 'इंडिया' नाम से भारत को पूरे विश्व में पहचाना जाता है तथा यह आधुनिक नाम है, इसलिये देश का नाम इंडिया ही होना चाहिये। चूँकि संविधान सभा विवाद के मामलों में सर्वसम्मति न हो पाने की दशा में समायोजन के सिद्धांत के अनुरूप कार्य करती थी, इसलिये उसने दोनों ही नामों को शामिल कर लेना उचित समझा। अतः इस अनुच्छेद से स्पष्ट है कि हमारे देश का औपचारिक नाम इंडिया है। इस अनुच्छेद में उल्लिखित यूनियन (Union) शब्द का प्रयोग करने के कारण को स्पष्ट करते हुए डॉ. भीमराव अंबेडकर ने कहा था-
  - भारत विभिन्न राज्यों के मध्य किसी समझौते का परिणाम नहीं है।
  - किसी भी राज्य को भारत संघ से पृथक् होने का अधिकार नहीं है।
- अनुच्छेद 1(2) में उल्लेख है कि राज्य और राज्यक्षेत्र वे होंगे जो संविधान की पहली अनुसूची में विनिर्दिष्ट हैं।
- अनुच्छेद 1(3) के अनुसार भारत के राज्यक्षेत्र में-
  - राज्यों के राज्यक्षेत्र
  - पहली अनुसूची में विनिर्दिष्ट संघ राज्यक्षेत्र और
  - ऐसे अन्य राज्यक्षेत्र जो अर्जित किये जाएँ, समाविष्ट होंगे।

प्रत्येक प्रभुत्व-संपन्न 'राष्ट्र' को नए राज्यक्षेत्रों के अर्जन का अधिकार होता है। ऐसे अर्जन हेतु विधि बनाने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि अर्जन अंतर्राष्ट्रीय विधि द्वारा अनुमोदित रीति से होता है, जैसे- युद्ध में जीतकर, संधि के अनुसरण में, अध्यर्पण द्वारा या स्वामीविहीन भूमि पर कब्ज़ा करके। अर्जन के पश्चात् वह राज्यक्षेत्र भारत का अंग हो जाता है और केंद्रशासित प्रदेश (संघ राज्यक्षेत्र) की तरह शासित होता है।

जैसा कि पहले बताया गया है, भारत द्वारा अर्जित राज्यक्षेत्रों की सूची में वर्तमान में कोई क्षेत्र शामिल नहीं है। जब भारत ने पुदुच्चेरी, कराइकल, माहे और यनम को फ्राँस से अर्जित किया था, तो 1954 से 1962 तक उन क्षेत्रों को अर्जित राज्यक्षेत्रों के रूप में प्रशासित किया जाता रहा था क्योंकि फ्राँसीसी संसद ने तब तक अध्यर्पण की संधि को अनुमोदित नहीं किया था। 1962 के बाद ये क्षेत्र संघ राज्यक्षेत्र बन गए। इनके अलावा, भारत ने समय-समय पर कुछ और भी विदेशी क्षेत्रों को अर्जित किया है, जैसे- गोवा, दमन व दीव, दादरा और नागर हवेली, सिक्किम इत्यादि। किंतु अब ये सारे क्षेत्र राज्यों या संघ राज्यक्षेत्रों की सूची में ही शामिल हो चुके हैं, कोई भी अर्जित राज्यक्षेत्रों में शामिल नहीं है।

भारत का राज्यक्षेत्र *(Territory of India)*

राज्य *(States)*

वर्तमान में प्रथम अनुसूची में 28 राज्यों का उल्लेख है। इसमें राज्यों का क्रम वही है, जो कि संविधान में निर्दिष्ट किया गया है- 1. आंध्र प्रदेश, 2. असम, 3. बिहार, 4. गुजरात, 5. केरल, 6. मध्य प्रदेश, 7. तमिलनाडु, 8. महाराष्ट्र, 9. कर्नाटक, 9. ओडिशा, 11. पंजाब, 12. राजस्थान, 13. उत्तर प्रदेश, 14. पश्चिम बंगाल, 15. नगालैंड, 16. हरियाणा, 17. हिमाचल प्रदेश, 18. मणिपुर, 19. त्रिपुरा, 20. मेघालय, 21. सिक्किम, 22. मिज़ोरम, 23. अरुणाचल प्रदेश, 24. गोवा, 25. छत्तीसगढ़, 26. उत्तराखंड, 27. झारखंड, 28. तेलंगाना।

संघ राज्यक्षेत्र *(Union Territories)*

वर्तमान में जम्मू-कश्मीर राज्य के पुनर्गठन तथा दादर एवं नागर हवेली और दमन एवं दीव के विलय के पश्चात् केंद्रशासित प्रदेशों की संख्या 8 हो गई है जिनके नाम प्रथम अनुसूची के दूसरे हिस्से में दिये गए हैं। इनका नाम तथा क्रम निम्नलिखित है- 1. दिल्ली, 2. अंडमान और निकोबार द्वीप समूह, 3. लक्षद्वीप, 4. दादरा एवं नागर हवेली और दमन एवं दीव, 5. पुदुच्चेरी (कराइकल, माहे और यनम सहित), 6. चंडीगढ़, 7. जम्मू-कश्मीर, 8. लद्दाख।

नोट: जम्मू-कश्मीर राज्य पुनर्गठन अधिनियम 2019 से पहले और तेलंगाना राज्य के बनने के बाद भारत में 29 राज्य और 7 केंद्रशासित प्रदेश थे। इस जे. एंड के. पुनर्गठन अधिनियम के लागू होने के पश्चात् जम्मू-कश्मीर और लद्दाख दो नए केंद्रशासित प्रदेश बने जिससे केंद्रशासित प्रदेशों की संख्या 9 हो गई एवं राज्यों की संख्या 28 हो गई। इसी प्रकार आगे दादर-नागर हवेली और दमन-द्वीप केंद्रशासित प्रदेश को मिलाकर एक केंद्रशासित प्रदेश बना दिया गया जिसे 26 जनवरी, 2020 से लागू कर दिया गया। इसके बाद केंद्रशासित प्रदेशों की संख्या 8 और राज्यों की संख्या 28 है, जो वर्तमान परिदृश्य है।

5 नागरिकता (Citizenship)

नागरिकता एक विशेष राजनीतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय या मानव समुदाय का एक नागरिक होने की अवस्था है। एक नागरिक एक राजनीतिक समुदाय का सहभागी सदस्य होता है। राष्ट्रीय राज्य या स्थानीय सरकार की कानूनी आवश्यकताओं को पूरा करके नागरिकता प्राप्त की गयी है। एक राष्ट्र अपने नागरिकों को कुछ अधिकार और विशेषधिकार देता है जो गैर-नागरिकों को प्राप्त नहीं होते हैं। भारतीय संविधान के भाग-2 में अनुच्छेद 5 से 11 में भारत की नागरिकता संबंधी प्रावधान दिये गए हैं। ये प्रावधान स्पष्ट करते हैं कि इस राज्यक्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों में से भारत के नागरिक (Citizens) कौन होंगे? संविधान में नागरिकता से संबंधित बहुत कम प्रावधान दिये गए हैं, इसमें केवल यह बताया गया है कि संविधान लागू होने के दिन किन व्यक्तियों को भारत का नागरिक माना जाएगा। जबकि बाद की स्थितियों के लिये नागरिकता संबंधी कानून बनाने की पूर्ण शक्ति संसद को दी गई है। इस शक्ति के आधार पर संसद ने सर्वप्रथम 1955 में 'नागरिकता अधिनियम' पारित किया था।

व्यक्तियों के विभिन्न वर्ग
(Different categories of persons)

'जनसंख्या' राज्य के चार अनिवार्य घटकों में से एक है। राज्य की जनसंख्या में चार प्रकार के व्यक्ति हो सकते हैं-

(i) **नागरिक:** ये राज्य के पूर्ण सदस्य होते हैं और उसके प्रति निष्ठा रखते हैं। कोई भी राज्य अपने नागरिकों को सभी सिविल व राजनीतिक अधिकार देता है। आधुनिक समय में इनकी पहचान यह है कि वे किस देश का पासपोर्ट रखते हैं अथवा रखने की योग्यता रखते हैं।

(ii) **विदेशी:** ये वे व्यक्ति हैं जो किसी अन्य देश के नागरिक होते हैं। विदेशी मित्र भी हो सकते हैं और शत्रु भी। इनको वे सभी अधिकार प्राप्त नहीं होते जो नागरिकों को प्राप्त हैं। ऐसे व्यक्तियों को अनुच्छेद 21 के तहत **जीवन का अधिकार** प्राप्त है परंतु अनुच्छेद 19 के तहत प्रदत्त **स्वतंत्रता का अधिकार** प्राप्त नहीं है। साथ ही विदेशी शत्रु को अनुच्छेद 22(3) का लाभ उठाने का भी अधिकार नहीं है परंतु विदेशी मित्र इस अधिकार का लाभ उठा सकते हैं।

(iii) **राज्यविहीन व्यक्ति:** ये किसी देश के नागरिक नहीं होते। कुछ देश ऐसे भी हो सकते हैं जिनमें इस प्रकार का कोई व्यक्ति न हो। उन्हें वही अधिकार प्राप्त होते हैं जो विदेशियों को होते हैं। भारत में असम में रहने वाले बहुत से अवैध प्रवासियों के बच्चे इसी श्रेणी में आते हैं। वे न तो वंश के आधार पर बांग्लादेश के नागरिक बन पाए और न ही देशीयकरण के आधार पर भारत के।

(iv) **शरणार्थी:** शरणार्थी वे व्यक्ति होते हैं जो अपने देश में नस्ल, धर्म, भाषा, राष्ट्रीयता, राजनीतिक विचारधारा या सामाजिक पहचान के आधार पर उत्पीड़न सहने या उत्पीड़न के भय से किसी अन्य देश में शरण ले लेते हैं, जैसे- भारत में शरण लेने वाले दलाई लामा और उनके तिब्बती समर्थक।

भारतीय नागरिकता का स्वरूप
(Nature of Indian citizenship)

- भारत में एकल नागरिकता की व्यवस्था है। कोई भारतीय नागरिक किसी अन्य देश का नागरिक नहीं हो सकता है अर्थात् भारत की नागरिकता के साथ-साथ किसी अन्य देश की नागरिता नहीं धारण कर सकता। (अमेरिका और स्विट्ज़रलैंड में लोग देश के साथ-साथ अपने प्रांत की नागरिकता भी प्राप्त करते हैं अर्थात् वहाँ दोहरी नागरिकता है)।
- भारत में सिर्फ प्राकृतिक व्यक्तियों को नागरिकता दी गई है, विधिक व्यक्तियों, जैसे-कंपनी, निगम आदि को नहीं।

नागरिकों और विदेशियों को प्राप्त अधिकारों में अंतर

भारतीय नागरिक को प्राप्त मूल अधिकार	❑ **अनुच्छेद-15, 16, 19, 29, 30:** केवल भारतीय नागरिकों को प्राप्त मूल अधिकार हैं। ❑ **अनुच्छेद-15:** धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर विभेद का निषेध। ❑ **अनुच्छेद-16:** लोक नियोजन में अवसर की समानता ❑ **अनुच्छेद-19:** वाक्-स्वातंत्र्य आदि विषयक कुछ अधिकारों का संरक्षण। ❑ **अनुच्छेद-29:** अल्पसंख्यक वर्गों के हितों का संरक्षण। ❑ **अनुच्छेद-30:** शिक्षण संस्थाओं की स्थापना व प्रशासन के संदर्भ में अल्पसंख्यक वर्गों का अधिकार।
विदेशियों को प्राप्त मूल अधिकार (भारतीय नागरिक को भी)	❑ **अनुच्छेद-14, 20, 21, 21A, 22, 23, 24, 25, 26, 27, 28:** भारतीय नागरिकों के साथ-साथ विदेशियों को भी प्राप्त मूल अधिकार हैं। ❑ **अनुच्छेद-14:** विधि के समक्ष समता। ❑ **अनुच्छेद-20:** अपराधों के लिये दोषसिद्धि के संबंध में संरक्षण। ❑ **अनुच्छेद-21:** प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता का अधिकार। ❑ **अनुच्छेद-21A:** शिक्षा का अधिकार (6–14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों को नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा)। ❑ **अनुच्छेद-22:** कुछ मामलों में गिरफ्तारी और निवारक निरोध के खिलाफ संरक्षण। ❑ **अनुच्छेद-23:** बलात् श्रम व मानव के दुर्व्यापार का निषेध। ❑ **अनुच्छेद-24:** जोखिमपूर्ण कार्यों में बाल-श्रम आदि का निषेध। ❑ **अनुच्छेद-25-28:** धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार।

6 मूल अधिकार (Fundamental Rights)

मूल अधिकार प्रत्येक व्यक्ति के लिये समानता, स्वतंत्रता, राष्ट्रहित और राष्ट्रीय एकता को समाहित करता है। मूल अधिकार राजनीतिक लोकतंत्र के आदर्शों को बनाए रखने के लिये ज़रूरी है। ये अधिकार देश में व्यवस्था बनाए रखने एवं राज्य के कठोर नियमों के खिलाफ नागरिकों की स्वतंत्रता की सुरक्षा करते हैं। ये मूल इसलिये भी हैं कि ये व्यक्ति के चहुँमुखी विकास, मसलन- भौतिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिये आवश्यक हैं।

मूल अधिकार का अर्थ (Meaning of Fundamental Rights)

मूल अधिकार उन अधिकारों को कहा जाता है जो व्यक्ति के जीवन के लिये आवश्यक होने के कारण संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किये जाते हैं और जिनमें राज्य द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता। ये ऐसे अधिकार हैं जो व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिये आवश्यक हैं और जिनके बिना मुनष्य अपना पूर्ण विकास नहीं कर सकता। संविधान द्वारा बिना किसी भेदभाव के हर व्यक्ति के लिये मूल अधिकारों के संबंध में गारंटी दी गई है। वस्तुत: मौलिक अधिकार वे अधिकार हैं, जो व्यक्ति के भौतिक व नैतिक विकास के लिये अनिवार्य हैं, जिन्हें संविधान का विशेष संरक्षण प्राप्त है। संविधान का विशेष संरक्षण इन्हें तीन रूपों में प्राप्त है-

- मौलिक अधिकारों के उल्लंघन पर अनुच्छेद 32 के तहत सीधे सर्वोच्च न्यायालय जा सकते हैं।
- मूल अधिकारों में संशोधन विशेष बहुमत से ही किया जा सकता है।
- इनका निलंबन केवल एक प्रक्रिया के माध्यम से ही किया जा सकता है।

मूल अधिकारों की विशेषताएँ *(Characteristics of Fundamental Rights)*

मूल अधिकारों की पूर्णत: निश्चित विशेषताएँ बताना संभव नहीं है, क्योंकि विभिन्न देशों में उनकी प्रकृति भिन्न है। मोटे तौर पर, भारतीय राजव्यवस्था की दृष्टि से मूल अधिकारों की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित मानी जा सकती हैं-

- संविधान में उल्लिखित तथा संविधान द्वारा रक्षित और प्रवृत्त।
- कार्यपालिका तथा विधानमंडल दोनों की शक्तियों पर नियंत्रण। इन अधिकारों का उल्लंघन करने वाली कोई विधि उस सीमा तक निष्प्रभावी या शून्य हो जाती है, जहाँ तक वह मूल अधिकारों का उल्लंघन करती है।
- मूल अधिकारों में परिवर्तन करने के लिये संविधान में संशोधन करना ज़रूरी होता है। कानूनी अधिकार के मामले में संविधान संशोधन की ज़रूरत सिर्फ तब होती है जब वह संविधान के द्वारा दिया गया हो। अगर कानूनी अधिकार किसी अधिनियम के माध्यम से दिया गया है तो उसमें साधारण बहुमत से ही संशोधन किया जा सकता है।

ध्यातव्य है कि सभी कानूनी अधिकार मूल अधिकार नहीं होते हैं, उदाहरण के लिये, उपभोक्ता अधिकार, संपत्ति का अधिकार, व्यापार और वाणिज्य की स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्छेद-301)।

मूल अधिकार नकारात्मक भी हो सकते हैं और सकारात्मक भी; उनका स्वरूप प्राकृतिक अधिकारों (Natural rights) की तरह भी हो सकता है और सामान्य कानूनी या विधिक अधिकारों (Legal rights) की तरह भी। यह इस बात पर निर्भर करता है कि संबंधित देश की राजव्यवस्था का स्वरूप कैसा है। जहाँ तक भारतीय संविधान व राजनीतिक व्यवस्था का प्रश्न है, उसमें दिये गए मूल अधिकार इन सभी वर्गों में अलग-अलग मात्रा में समायोजित किये जा सकते हैं।

भारत में मूल अधिकारों की आवश्यकता (Need of Fundamental Rights in India)

संविधान सभा द्वारा संविधान में मूल अधिकारों की व्यवस्था किये जाने के कुछ विशेष कारण थे, जैसे-

- भारत की अधिकांश जनता निरक्षर होने के कारण अपने राजनीतिक हितों और अधिकारों को नहीं समझती थी, इसलिये यह खतरा लगातार विद्यमान था कि कहीं राज्य उसके मूल अधिकारों का हनन न कर दे।
- संसदीय शासन प्रणाली (Parliamentary System) में कार्यपालिका का विधायिका में बहुमत होता है जिसका अर्थ है कि सरकार संसदीय बहुमत का प्रयोग करते हुए मूल अधिकारों को छीनने वाला कानून बना सकती है।
- भारत में धार्मिक और जातीय वैविध्य काफी ज़्यादा है तथा अल्पसंख्यक वर्ग अपनी कम जनसंख्या के कारण सरकार के निर्माण में प्राय: कमज़ोर सिद्ध होता है। अत: बहुमत की तानाशाही से अल्पसंख्यकों को सुरक्षा प्रदान करने के लिये।
- भारत में संघात्मक पद्धति (Federal System) को स्वीकार किया गया था और यह संभावना थी कि कहीं किसी प्रांत की सरकार नागरिकों के अधिकार न छीनने लगे।
- जनता को यह बोध हो जाए कि अब किसी भी व्यक्ति के पास विशेषाधिकार (Privileges) नहीं हैं और सभी भारतीय नागरिक विधि के समक्ष समान हैं।
- कई ऐसे वर्ग (दलित, आदिवासी स्त्री) थे जो लंबे समय से वर्चस्वशाली वर्गों के हाथों दमन और शोषण का शिकार हो रहे थे। ऐसे वर्गों को मुख्यधारा में लाने के लिये मूल अधिकारों की व्यवस्था करना ज़रूरी था।

7 राज्य के नीति-निदेशक सिद्धांत (Directive Principles of State Policy)

संविधान के भाग 4 को राज्य के नीति-निदेशक तत्त्व (डी.पी. एस.पी.) शीर्षक दिया गया है। इसके अंतर्गत 36 से 51 तक के अनुच्छेद शामिल हैं। संविधान का यह भाग आयरलैंड के संविधान से प्रभावित है। इसके माध्यम से संविधान राज्य को बताता है कि उसे सामाजिक तथा आर्थिक न्याय सुनिश्चित करने के लिये नैतिक दृष्टि से किन पक्षों पर बल देना चाहिये।

नीति-निदेशक तत्त्वों का इतिहास (History of Directive Principles)

भारतीय संविधान में नीति-निदेशक तत्त्वों का विकास मूल अधिकारों के विकास के साथ ही हो गया था। संविधान सभा के सदस्यों में इस बात पर सहमति बन गई थी कि स्वतंत्र भारत में प्रत्येक व्यक्ति को मूल अधिकार तो दिये ही जाने चाहिये, साथ ही राज्य द्वारा ऐसे आदर्शों को साधने की कोशिश भी की जानी चाहिये जो सामाजिक न्याय के लिये वांछनीय हैं। इन सिद्धांतों को मूल अधिकारों के रूप में दिया जाना तत्कालीन परिस्थितियों में संभव नहीं था। ऐसे अधिकार, जिन्हें तत्काल देना संभव नहीं था, बी.एन. राव की सलाह पर नीति-निदेशक तत्त्वों की श्रेणी में रख दिये गए, ताकि जब सरकारें सक्षम हो जाएँ तब धीरे-धीरे इन उपबंधों को लागू करें। इन्हीं उपबंधों को संविधान के भाग 4 में रखा गया तथा राज्य के नीति-निदेशक सिद्धांत नाम दिया गया।

राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों की विशेषताएँ (Features of Directive Principles of State Policy)

- राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों से स्पष्ट होता है कि नीतियों एवं कानूनों को प्रभावशाली बनाते समय राज्य इन तत्त्वों को ध्यान में रखेगा। ये संवैधानिक निर्देश कार्यपालिका और प्रशासनिक मामलों में राज्य के लिये सिफारिशें हैं। अनुच्छेद 36 के अनुसार भाग 4 में 'राज्य' शब्द का वही अर्थ है, जो मूल अधिकारों से संबंधित भाग 3 में है।
  - ❑ डी.पी.एस.पी. पर गांधीवाद, समाजवाद तथा उदारवाद का प्रभाव है।
  - ❑ इसके द्वारा आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना की जाती है।
  - ❑ इसको लागू करने का दायित्व राज्य सरकार का है।
  - ❑ इसे न्यायालय द्वारा लागू नहीं कराया जा सकता।
- यह भारत शासन अधिनियम, 1935 में उल्लिखित अनुदेशों के समान है। डॉ. बी.आर. अंबेडकर के शब्दों में निदेशक तत्त्व अनुदेशों के समान हैं जो भारत शासन अधिनियम, 1935 के अंतर्गत ब्रिटिश सरकार द्वारा गवर्नर जनरल और भारत की औपनिवेशिक कॉलोनियों के गवर्नरों को जारी किये जाते थे। जिसे निदेशक तत्त्व कहा जाता है, वह इन अनुदेशों का ही दूसरा नाम है।
- निदेशक तत्त्वों की प्रकृति न्यायोचित नहीं है। इनका हनन होने पर न्यायालय द्वारा इन्हें लागू नहीं कराया जा सकता। अतः सरकार (केंद्र, राज्य एवं स्थानीय) इन्हें लागू करने के लिये बाध्य नहीं है।
- राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों का उद्देश्य लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है।
- ये संविधान की प्रस्तावना में उद्धृत सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय तथा स्वतंत्रता, समानता और बंधुता की भावना पर आधारित हैं।
- ये वे विचार हैं, जिन्हें संविधान निर्माताओं ने भविष्य में बनने वाली सरकारों के समक्ष एक पथ-प्रदर्शक के रूप में रखा है।
- जनता के हित और आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना के लिये नीति-निदेशक तत्त्वों को यथाशक्ति कार्यान्वित करना राज्य का कर्त्तव्य है।

निदेशक तत्त्वों का महत्त्व (Importance of Directive Principles)

- 'लोक-कल्याणकारी राज्य' की स्थापना करना।
- आर्थिक व सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना करना।
- भारत सरकार के कल्याणकारी कार्यों का आधार; अधिकांश योजनाएँ इससे प्रेरित हैं।
- इसमें संविधान का दर्शन निहित होता है।
- जब कभी न्यायपालिका के सम्मुख कोई संवैधानिक कठिनाई उत्पन्न हुई है, न्यायपालिका ने संविधान की प्रस्तावना तथा राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों को ध्यान में रखकर संविधान को समझने का प्रयास किया है।
- वर्तमान में उच्चतम न्यायालय के द्वारा जनहित याचिकाओं के अंतर्गत जीवन के अधिकार की विस्तृत व्याख्या की गई है और जीवन के अधिकार में आजीविका ही निदेशक तत्त्वों में वर्णित है।

विभिन्न विचारकों का राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों के संबंध में विचार *(Thoughts of Different Thinkers Regarding to the Directive Principles of State Policy)*

- **डॉ. अंबेडकर:** "नीति-निदेशक तत्त्वों का बहुत बड़ा मूल्य है। ये भारतीय राजव्यवस्था के लक्ष्य 'आर्थिक लोकतंत्र' को निर्धारित करते हैं जैसा कि 'राजनीतिक लोकतंत्र' में प्रकट होता है।"
- **ग्रेनविल ऑस्टिन:** "निदेशक तत्त्व सामाजिक क्रांति के उद्देश्यों की प्राप्ति के माध्यम हैं।"
- **बी.एन. राव:** "नीति-निदेशक तत्त्वों का राज्य प्राधिकारियों के लिये शैक्षिक महत्त्व है।"

8 मूल कर्त्तव्य (Fundamental Duties)

भारत के संविधान में मूल अधिकारों के साथ मूल कर्त्तव्यों (मौलिक कर्त्तव्यों) को भी शामिल किया गया है। वस्तुतः अधिकार और कर्त्तव्य एक-दूसरे के पूरक हैं। अधिकारविहीन कर्त्तव्य निरर्थक होते हैं जबकि कर्त्तव्यविहीन अधिकार निरंकुशता पैदा करते हैं। भारतीय संविधान की एक प्रमुख विशेषता है कि यह नागरिकों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को संतुलित करता है।

यदि व्यक्ति को 'गरिमापूर्ण जीवन' का अधिकार प्राप्त है तो उसका कर्त्तव्य बनता है कि वह अन्य व्यक्तियों के गरिमापूर्ण जीवन के अधिकार का भी खयाल रखे। यदि व्यक्ति को 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' प्यारी है तो यह भी ज़रूरी है कि उसमें दूसरों की 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' के प्रति धैर्य और सहिष्णुता विद्यमान हो। देश नागरिकों से यह अपेक्षा करता है कि वे कुछ कर्त्तव्यों का पालन करें।

रोचक बात यह है कि विश्व के अधिकांश लोकतांत्रिक देशों के संविधान में नागरिकों के कर्त्तव्यों का उल्लेख नहीं किया गया है, उदारहण के लिये अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, कनाडा और फ्राँस आदि देशों में ऐसी कोई कर्त्तव्यों की सूची नहीं हैं। उनमें केवल मूल अधिकारों की घोषणा की गई है। कुछ साम्यवादी देशों में मूल कर्त्तव्यों की घोषणा करने की परंपरा दिखाई पड़ती है। भूतपूर्व सोवियत संघ का उदाहरण इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। **भारतीय संविधान में उल्लिखित मूल कर्त्तव्य भूतपूर्व सोवियत संघ के संविधान से ही प्रभावित हैं।** रूस के संविधान में घोषणा की गई कि नागरिकों के अधिकार एवं स्वतंत्रता उनके कर्त्तव्यों एवं दायित्वों से जुड़े हुए हैं।

भारतीय संविधान में मूल कर्त्तव्यों का इतिहास *(History of fundamental duties in Indian constitution)*

भारतीय संविधान में भी प्रारंभ में मूल कर्त्तव्य शामिल नहीं थे। इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्रित्व काल में 1975 में आपातकाल की घोषणा की गई, तभी **सरदार स्वर्ण सिंह** के नेतृत्व में संविधान में उपयुक्त संशोधन सुझाने के लिये एक समिति का गठन किया गया था। इस समिति ने यह सुझाव दिया कि संविधान में मूल अधिकारों के साथ-साथ मूल कर्त्तव्यों का समावेश होना चाहिये। समिति का तर्क यह था कि भारत में अधिकांश लोग सिर्फ अधिकारों पर बल देते हैं, यह नहीं समझते कि हर अधिकार किसी न किसी कर्त्तव्य के सापेक्ष होता है।

स्वर्ण सिंह समिति की अनुशंसाओं के आधार पर **42वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1976** के द्वारा संविधान में **भाग-4क** अंतःस्थापित किया गया और उसके भीतर **अनुच्छेद 51क** को रखते हुए 10 मूल कर्त्तव्यों की सूची प्रस्तुत की गई। "यद्यपि स्वर्ण सिंह समिति ने संविधान में आठ मूल कर्त्तव्यों को जोड़े जाने का का सुझाव दिया था"। आगे चलकर **86वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2002** के माध्यम से एक और मूल कर्त्तव्य जोड़ा गया। जिसके तहत 6-14 वर्ष की आयु के बच्चों के माता-पिता और संरक्षकों पर यह कर्त्तव्य आरोपित किया गया है कि वे अपने बच्चे अथवा प्रतिपाल्य को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्रदान करेंगे। इस प्रकार वर्तमान में मूल कर्त्तव्यों की संख्या 11 है।

मूल कर्त्तव्यों की सूची *(List of fundamental duties)*

वर्तमान में संविधान के भाग-4क तथा अनुच्छेद 51क के अनुसार भारत के प्रत्येक नागरिक के कुल 11 मूल कर्त्तव्य हैं। इसके अनुसार, भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य होगा कि वह-

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे।

(ख) स्वतंत्रता के लिये हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में सँजोए रखे और उनका पालन करें।

(ग) भारत की प्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण रखे।

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किये जाने पर राष्ट्र की सेवा करे।

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हैं।

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे।

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्द्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे।

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे।

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे।

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए नई ऊँचाइयों को छू ले।

(ट) जो माता-पिता या संरक्षक हों, वह छः से चौदह वर्ष के बीच की आयु के, यथास्थिति, अपने बच्चे अथवा प्रतिपाल्य को शिक्षा प्राप्त करने के अवसर प्रदान करें।

9 संघ की कार्यपालिका (Executive of Union)

भारतीय संविधान में सरकार के संसदीय स्वरूप की व्यवस्था की गई है तथा संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका अपनी नीतियों एवं कार्यों के लिये विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है। वस्तुत: राजव्यवस्था का वह अंग जो नीति-निर्माण, नीति क्रियान्वयन का कार्य करे, कार्यपालिका कहलाती है। भारतीय संविधान के **भाग 5 के अनुच्छेद 52 से 78** तक में संघ की कार्यपालिका का उल्लेख किया गया है जिसमें सम्मिलित अंग- राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मंत्रिपरिषद तथा महान्यायवादी आदि हैं। भारतीय संविधान केंद्र एवं राज्य दोनों में संसदीय सरकार की व्यवस्था करता है। जहाँ एक तरफ अनुच्छेद 74 और अनुच्छेद 75 के माध्यम से केंद्र में संसदीय स्वरूप की व्यवस्था होती है तो वहीं दूसरी तरफ अनुच्छेद 163 और अनुच्छेद 164 के माध्यम से राज्यों के लिये संसदीय व्यवस्था का प्रावधान किया जाता है।

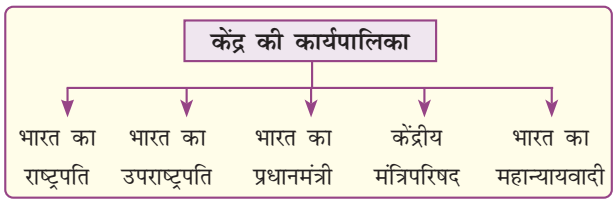

भारत का राष्ट्रपति (The President of India)

राष्ट्रपति भारत का राज्य प्रमुख तथा प्रथम नागरिक होता है। संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होती है और वह इसका प्रयोग संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करता है। राष्ट्रपति देश की सेनाओं का सर्वोच्च सेनापति भी होता है।

राष्ट्रपति का निर्वाचन *(Election of the President)*

संविधान के अनुच्छेद 54 तथा 55 में राष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित उपबंध दिये गए हैं। अनुच्छेद 54 में इस बात का निर्देश है कि राष्ट्रपति के निर्वाचन में मत देने का अधिकार किसे होगा, जबकि अनुच्छेद 55 में बताया गया है कि निर्वाचन की प्रक्रिया क्या होगी।

निर्वाचक मंडल (Electoral College)

अनुच्छेद 54 में स्पष्ट किया गया है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मंडल के माध्यम से होगा जिसमें–

(क) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य तथा

(ख) राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य शामिल होंगे।

इस निर्वाचक मंडल में संविधान के '70वें संशोधन अधिनियम, 1992' के द्वारा एक स्पष्टीकरण अंत:स्थापित किया गया था। इसके अनुसार राष्ट्रपति के निर्वाचन के संबंध में राज्यों की सूची में दिल्ली राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र और पुदुच्चेरी संघ राज्यक्षेत्र भी शामिल होंगे।

ध्यान रहे कि राष्ट्रपति के निर्वाचन मंडल में राज्यसभा व लोकसभा में मनोनीत सदस्य तथा राज्य की विधानपरिषदों के सदस्य शामिल नहीं होते हैं।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन (Indirect Election)

निर्वाचक मंडल के प्रावधान से स्पष्ट हो जाता है कि भारत में राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष तरीके से होता है, जनता स्वयं चुनाव द्वारा राष्ट्रपति को नहीं चुनती। संविधान सभा में इस प्रश्न पर काफी बहस भी हुई थी। अंत में अप्रत्यक्ष निर्वाचन को निम्नलिखित ठोस आधारों पर स्वीकार कर लिया गया–

- भारत की बड़ी जनसंख्या तथा वृहत् आकार को देखते हुए प्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था करना न सिर्फ महँगा होता बल्कि समय की दृष्टि से भी अनुपयोगी होता।
- यदि प्रत्यक्ष निर्वाचन कर लिया जाता तो भी समस्याएँ कम नहीं होतीं। शक्ति संघर्ष की संभावना बनी रहती, क्योंकि पूरे देश की जनता द्वारा चुना गया राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद की अधीनता कभी स्वीकार नहीं करता।

निर्वाचन की प्रक्रिया (Electoral Procedure)

अनुच्छेद 55 में राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रक्रिया विस्तार से बताई गई है, जिसे निम्नलिखित बिंदुओं द्वारा क्रमश: समझा जा सकता है–

- राष्ट्रपति के चुनाव में एकल संक्रमणीय मत द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति लागू की गई है जो मूलत: यही सुनिश्चित करने के लिये है कि निर्वाचित उम्मीदवार आनुपातिक दृष्टि से सर्वाधिक लोगों की पसंद हो। इस पद्धति में सबसे पहले एक कोटा तय कर लिया जाता है जो भारत के राष्ट्रपति के मामले में 50% से अधिक मतों का है। यह कोटा चुनाव में वास्तविक रूप से कितने मतों के बराबर होगा, यह निर्धारित करने के लिये एक सूत्र निर्धारित किया गया है, जो इस प्रकार है–

$$\frac{\text{डाले गए कुल मतों की संख्या}}{\text{कुल स्थानों की संख्या} + 1} + 1 = \text{कोटा}$$

- इस पद्धति में प्रत्येक मतदाता को मत देते समय अपनी वरीयताओं का अंकन करना होता है अर्थात् उसे बताना होता है कि विभिन्न प्रत्याशियों के लिये उसका वरीयता क्रम क्या है।
- अनुच्छेद 55(2) में बताया गया है कि सभी राज्य विधानसभाओं के सभी निर्वाचित विधायकों के कुल मतों का योग, संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों के मतों के कुल योग के समतुल्य बनाने के लिये क्या पद्धति अपनाई जाए? इस पद्धति के अनुसार सबसे पहले विभिन्न राज्यों के विधायकों के मतों का मूल्य निकाला जाता है। किसी राज्य की विधानसभा के एक सदस्य के मत का मूल्य निकालने का सूत्र इस प्रकार है–

10 राज्य की कार्यपालिका (State Executive)

भारत विविधताओं से परिपूर्ण देश है। यहाँ राज्यों में भाषा, रीति-रिवाज एवं संस्कृति संबंधी विविधताएँ पाई जाती हैं। इन विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान में संघ एवं राज्यों से संबंधित संवैधानिक व्यवस्थाओं में एकरूपता रखने का प्रयास किया गया है। जिस प्रकार संघीय कार्यपालिका राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, मंत्रिपरिषद (जिसका प्रमुख प्रधानमंत्री होता है) तथा महान्यायवादी से मिलकर बनती है, उसी प्रकार राज्यों में कार्यपालिका राज्यपाल, राज्य मंत्रिपरिषद (जिसका प्रधान मुख्यमंत्री होता है) तथा महाधिवक्ता से मिलकर बनती है। राज्य कार्यपालिका के संबंध में उपबंध संविधान के **भाग-6 के अनुच्छेद 153 से 167** में दिये गए हैं।

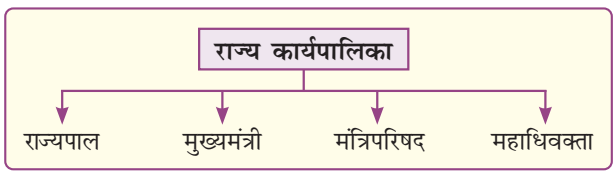

राज्यपाल (The Governor)

'राज्यपाल' का पद राज्य की शासन-व्यवस्था का अत्यंत महत्त्वपूर्ण पद है। वह राज्य विधानमंडल का अभिन्न अंग है, राज्य की कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान है तथा केंद्र सरकार का प्रतिनिधि भी है। इस तरह राज्यपाल एक साथ कई भूमिकाओं का निर्वाह करता है।

मूल संविधान में व्यवस्था थी कि प्रत्येक राज्य के लिये एक राज्यपाल होगा (अनुच्छेद 153)। बाद में संविधान के 7वें संशोधन, 1956 के माध्यम से इसमें परंतुक (Proviso) जोड़कर स्पष्ट किया गया कि एक ही व्यक्ति को दो या अधिक राज्यों का राज्यपाल बनाया जा सकेगा।

राज्यपाल की नियुक्ति *(Appointment of the Governor)*

संविधान सभा इस प्रश्न पर काफी दुविधा में थी कि राज्यपाल की नियुक्ति कैसे हो। संघात्मक देशों में राज्यपाल प्रायः जनता द्वारा सीधे चुने जाते हैं। अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया में यही व्यवस्था है। इसके विपरीत कनाडा में राज्यपालों की नियुक्ति केंद्र द्वारा की जाती है। संविधान सभा के सामने सवाल था कि भारत की परिस्थितियों के लिये इनमें से कौन-सा रास्ता उचित होगा।

लंबे विचार-विमर्श के बाद संविधान सभा ने तय किया कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा किया जाना ही उचित होगा। इस निष्कर्ष तक पहुँचने के निम्नलिखित आधार थे-

- भारत के विभाजन के कारण संविधान सभा समझ गई थी कि देश की स्थिरता और अखंडता के लिये एक मज़बूत केंद्र का होना ज़रूरी है। इसके लिये केंद्र द्वारा नियुक्त राज्यपाल ही बेहतर था।
- अगर राज्यपाल जनता द्वारा चुना जाता तो वह मुख्यमंत्री की प्रमुखता स्वीकार करने की बजाय स्वयं ही शक्ति का केंद्र बनना पसंद करता।
- अगर राज्यपाल का चुनाव होता तो इस पद पर चुना जाने वाला व्यक्ति स्वभावतः किसी दल या गठबंधन से जुड़ा होता। इससे उसकी तटस्थता प्रभावित होती और यह राज्य के स्वस्थ शासन के लिये अच्छा न होता।
- चूँकि राज्यपाल को सिर्फ औपचारिक प्रमुख की भूमिका निभानी थी, इसलिये उसके चुनाव पर बहुत सारा धन खर्च करने तथा अनावश्यक जटिलताओं को आमंत्रित करने की उपयोगिता नहीं थी।

राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। राज्यपाल राज्य का कार्यकारी प्रमुख होता है, जो केंद्र सरकार के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है।

नोटः केंद्र सरकार द्वारा मनोनीत व्यक्ति को ही राष्ट्रपति किसी राज्य का राज्यपाल नियुक्त करता है, किंतु राज्यपाल का कार्यालय एक स्वतंत्र संवैधानिक कार्यालय है, केंद्र सरकार के अधीनस्थ नहीं।

राज्यपाल की नियुक्ति के लिये अर्हताएँ एवं शर्तें *(Qualifications & Conditions for Appointment as Governor)*

संविधान के अनुच्छेद 157 में राज्यपाल के पद पर नियुक्ति के लिये दो अर्हताएँ निर्धारित की गई हैं-

- उसे भारत का नागरिक होना चाहिये।
- वह 35 वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका हो।

वस्तुतः राज्यपाल बनने के लिये यही दो अर्हताएँ हैं, पर इनके अलावा कुछ शर्तें भी हैं जो इस पद पर नियुक्ति की नहीं बल्कि इस पद पर बने रहने की अर्हताएँ हैं। ये हैं-

- उस व्यक्ति को संसद या राज्य विधानमंडल के किसी सदन का सदस्य नहीं होना चाहिये। यदि ऐसा सदस्य राज्यपाल के पद पर नियुक्त किया जाता है, तो यह समझा जाएगा कि राज्यपाल का पद ग्रहण करने की तारीख से उन्होंने अपना स्थान रिक्त कर दिया। [(अनुच्छेद 158(1)]
- वह केंद्र एवं राज्य सरकार के अधीन किसी लाभ के पद पर न हो। [अनुच्छेद 158 (2)]

इसके अतिरिक्त राज्यपाल की नियुक्ति से संबंधित दो परंपराएँ और जुड़ गई हैं-

प्रथम, वह उस राज्य से संबंधित नहीं होना चाहिये, जहाँ उसे नियुक्त किया जा रहा है, जिससे वह स्थानीय राजनीति से मुक्त रहे।

दूसरा, राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति से पहले उस राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श किया जाए, जहाँ उनकी नियुक्ति की जा रही है। किंतु इन परंपराओं का कुछ मामलों में उल्लंघन किया जाता है।

11 संघ की विधायिका (Legislature of Union)

भारतीय संविधान में संसदीय लोकतांत्रिक प्रणाली को अपनाया गया है, जिसे सरकार का **वेस्टमिंस्टर मॉडल** भी कहा जाता है। संसदीय लोकतंत्र में संसद के सामान्यत: तीन लक्षण होते हैं, प्रथम- यह जनता का प्रतिनिधित्व करती है, द्वितीय- इसमें उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार होती है तथा तृतीय- मंत्रिपरिषद लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है।

भारतीय संसद राष्ट्रपति, लोकसभा एवं राज्यसभा से मिलकर बनती है। राष्ट्रपति इसका अभिन्न अंग होता है, क्योंकि कोई भी विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के पश्चात् ही विधि बन पाता है। संसद की संरचना, अवधि, अधिकारों, प्रक्रियाओं, विशेषाधिकारों तथा शक्तियों का वर्णन संविधान के **भाग-5** के अंतर्गत **अनुच्छेद 79 से 122** में किया गया है।

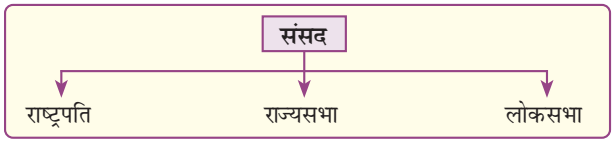

राज्यसभा (The Council of States)

हमारी संसद का एक सदन 'राज्यसभा' है, जिसे अंग्रेज़ी में 'Council of States' कहा जाता है। इसकी संरचना प्राय: वैसी ही है, जैसी इंग्लैंड में 'हाउस ऑफ लॉर्ड्स' की है। थोड़ी-बहुत मात्रा में इसे अमेरिकी कॉन्ग्रेस के द्वितीय सदन 'सीनेट' के समकक्ष भी माना जा सकता है। कभी-कभी इंग्लैंड की राजव्यवस्था के अनुकरण पर इसे उच्च सदन (Upper House) कह दिया जाता है। हालाँकि संविधान में ऐसी अभिव्यक्ति का प्रयोग नहीं किया गया है।

राज्यसभा का गठन *(Composition of the Council of States)*

संविधान के **अनुच्छेद 80** में राज्यसभा के गठन से संबंधित प्रावधान दिये गए हैं। इसके अनुसार राज्यसभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या 250 हो सकती है। हालाँकि वर्तमान में यह 245 ही है। इनमें से 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत (Nominate) किये जाते हैं जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला या समाज-सेवा के संबंध में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव होता है। शेष सदस्य, जो अधिकतम 238 हो सकते हैं, किंतु वर्तमान में 233 हैं, निर्वाचित होते हैं। राज्यसभा में प्रत्येक राज्य से कितने सदस्य होंगे, इसके लिये अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया आदि में प्रचलित 'समान प्रतिनिधित्व के सिद्धांत' (Doctrine of Equal Representation) को नहीं अपनाया गया है बल्कि राज्य विशेष की जनसंख्या को आधार बनाया गया है। यह व्यवस्था की गई है कि किसी राज्य की जनसंख्या के पहले 50 लाख व्यक्तियों तक हर 10 लाख व्यक्तियों पर एक सदस्य तथा उसके बाद प्रति 20 लाख व्यक्तियों पर राज्यसभा में एक सदस्य होगा। संविधान की चौथी अनुसूची में सभी राज्यों तथा संघ राज्यक्षेत्रों के लिये राज्यसभा में आवंटित किये गए स्थानों की सूची दी गई है। वर्तमान में यह सूची इस प्रकार है-

राज्यसभा की संरचना	संवैधानिक उपबंध	वर्तमान स्थिति
1. राज्यों एवं संघ राज्यक्षेत्रों के प्रतिनिधि	238	233 (229 सदस्य राज्यों से तथा 4 सदस्य संघ राज्यक्षेत्रों से)
2. राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत सदस्य	12	12
अधिकतम सदस्य	250	245

राज्यसभा में राज्यों को आबंटित स्थान

क्रम संख्या	राज्य	स्थान
1.	आंध्र प्रदेश	11
2.	अरुणाचल प्रदेश	01
3.	असम	07
4.	बिहार	16
5.	छत्तीसगढ़	05
6.	गोवा	01
7.	गुजरात	11
8.	हरियाणा	05
9.	हिमाचल प्रदेश	03
10.	झारखंड	06
11.	कर्नाटक	12
12.	केरल	09
13.	मध्य प्रदेश	11
14.	महाराष्ट्र	19
15.	मणिपुर	01
16.	मेघालय	01
17.	मिज़ोरम	01
18.	नगालैंड	01
19.	ओडिशा	10
20.	पंजाब	07
21.	राजस्थान	10
22.	सिक्किम	01
23.	तमिलनाडु	18
24.	तेलंगाना	07
25.	त्रिपुरा	01
26.	उत्तराखंड	03
27.	उत्तर प्रदेश	31
28.	पश्चिम बंगाल	16

12 राज्य विधायिका (The State Legislature)

मध्य प्रदेश विधानसभा: विकासक्रम (Chronology : Madhya Pradesh Legislative Assembly)

15 अगस्त, 1947 के पूर्व देश में कई छोटी-बड़ी रियासतें एवं देशी राज्य अस्तित्व में थे। स्वाधीनता पश्चात् उन्हें स्वतंत्र भारत में विलीन और एकीकृत किया गया। 26 जनवरी, 1950 को संविधान लागू होने के बाद देश में सन् 1952 में पहला आम चुनाव हुआ, जिसके कारण संसद एवं विधान मंडल कार्यशील हुए। प्रशासन की दृष्टि से इन्हें श्रेणियों में विभाजित किया गया था। सन् 1956 में राज्यों के पुनर्गठन के फलस्वरूप 1 नवंबर, 1956 को नया राज्य मध्य प्रदेश अस्तित्व में आया। इसके घटक राज्य मध्य प्रदेश, मध्य भारत, विंध्य प्रदेश एवं भोपाल थे, जिनकी अपनी विधान सभाएँ थीं।

पुनर्गठन के फलस्वरूप सभी चारों विधानसभाएँ एक विधानसभा में समाहित हो गईं। अत: 1 नवंबर, 1956 को पहली मध्य प्रदेश विधानसभा अस्तित्व में आई। इसका पहला और अंतिम अधिवेशन 17 दिसंबर, 1956 से 17 जनवरी, 1957 के बीच संपन्न हुआ।

मध्य प्रदेश के घटक राज्यों एवं इकाइयों का संक्षिप्त ब्योरा इस प्रकार है –

विंध्य प्रदेश विधान सभा

तत्कालीन विंध्य प्रदेश राज्य की विधानसभा का रीवा स्थित भवन

4 अप्रैल, 1948 को विंध्य प्रदेश की स्थापना हुई और इसे 'ब' श्रेणी के राज्य का दर्जा दिया गया। इसके राजप्रमुख श्री मार्तंड सिंह हुए। सन् 1950 में यह राज्य 'ब' से 'स' श्रेणी में कर दिया गया। सन् 1952 के आम चुनाव में यहाँ की विधानसभा के लिये 60 सदस्य चुने गए, जिसके अध्यक्ष श्री शिवानंद थे। 1 मार्च, 1952 से यह राज्य उप-राज्यपाल का प्रदेश बना दिया गया। पं. शंभूनाथ शुक्ल उसके मुख्यमंत्री बने। विंध्य प्रदेश विधानसभा की पहली बैठक 21 अप्रैल, 1952 को हुई। इसका कार्यकाल लगभग साढ़े चार वर्ष रहा और लगभग 170 बैठकें हुईं। श्री श्याम सुंदर 'श्याम' इस विधानसभा के उपाध्यक्ष रहे।

भोपाल विधानसभा

प्रथम आम चुनाव के पूर्व तक भोपाल राज्य केंद्रीय शासन के अंतर्गत मुख्य आयुक्त द्वारा शासित होता रहा। इसे तीस सदस्यीय विधानसभा के साथ 'स' श्रेणी के राज्य का दर्जा प्रदान किया गया था। तीस सदस्यों में 6 सदस्य अनुसूचित जाति और 1 सदस्य अनुसूचित जनजाति से तथा 23 सामान्य क्षेत्रों से चुने जाते थे। तीस चुनाव क्षेत्रों में से 16 एक सदस्यीय तथा सात द्विसदस्यीय थे।

पूर्व भोपाल राज्य का विधानसभा भवन

प्रथम आम चुनाव के बाद विधिवत् विधानसभा का गठन हुआ। भोपाल विधानसभा का कार्यकाल मार्च, 1952 से अक्टूबर, 1956 तक लगभग साढ़े चार साल रहा। भोपाल राज्य के मुख्यमंत्री डॉ. शंकर दयाल शर्मा एवं इस विधानसभा के अध्यक्ष श्री सुल्तान मोहम्मद खाँ एवं उपाध्यक्ष श्री लक्ष्मीनारायण अग्रवाल थे।

मध्य भारत विधानसभा (ग्वालियर)

पूर्व मध्य भारत राज्य की विधानसभा का मोती महल, ग्वालियर स्थित भवन

मध्य भारत इकाई की स्थापना ग्वालियर, इंदौर और मालवा रियासतों को मिलाकर मई, 1948 में की गई थी। ग्वालियर राज्य के सबसे बड़ा होने के कारण वहाँ के तत्कालीन शासक श्री जीवाजी राव सिंधिया को मध्य भारत का आजीवन राज प्रमुख एवं ग्वालियर के मुख्यमंत्री श्री लीलाधर जोशी को प्रथम मुख्यमंत्री बनाया गया। इस मंत्रीमंडल ने 4 जून, 1948 को शपथ ली। तत्पश्चात् 75 सदस्यीय विधानसभा का गठन किया गया, जिनमें 40 प्रतिनिधि ग्वालियर राज्य के, 20 इंदौर के और शेष 15 अन्य छोटी रियासतों से चुने गए। यह विधानसभा 31 अक्टूबर, 1956 तक कायम रही। सन् 1952 में संपन्न आम चुनावों में मध्य भारत विधानसभा के लिये 99 स्थान रखे गए, मध्य भारत को 59 एक सदस्यीय क्षेत्र और 20 द्विसदस्यीय क्षेत्र में बाँटा गया। कुल 99 स्थानों में से 17 अ.जा. तथा 12 स्थान अ.ज.जा. के लिये सुरक्षित रखे गए।

मध्य भारत की नई विधानसभा का पहला अधिवेशन 17 मार्च, 1952 को ग्वालियर में हुआ। इस विधानसभा का कार्यकाल लगभग साढ़े-चार साल रहा। इस विधानसभा के अध्यक्ष श्री ए.एस. पटवर्द्धन और उपाध्यक्ष श्री वि.वि. सर्वटे थे।

13 न्यायपालिका (Judiciary)

सामान्यत: न्यायालय को विभिन्न लोगों या निजी संस्थानों के आपसी झगड़ों को सुलझाने वाले 'पंच' के रूप में देखा जाता है, परंतु न्यायपालिका आपसी झगड़ों के साथ-साथ कुछ महत्त्वपूर्ण राजनीतिक कार्यों को भी अंजाम देती है। यह सरकार का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। 1950 से ही न्यायपालिका ने संविधान की व्याख्या और सुरक्षा करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। न्यायपालिका की प्रमुख भूमिका यह है कि वह 'कानून के शासन' की रक्षा और कानून की सर्वोच्चता को सुनिश्चित करे। इस प्रकार न्यायपालिका कार्यपालिका और कार्यपालिका के कार्यों पर नज़र रखती है और इनकी किसी भी प्रकार की निरंकुशता पर नियंत्रण रखती है।

संविधान में न्यायपालिका के सभी स्तरों से जुड़े प्रावधान अलग-अलग भागों व अनुच्छेदों में दिये गए हैं। सर्वोच्च न्यायालय से जुड़े उपबंध अनुच्छेद 124-147 (भाग V) में, उच्च न्यायालयों से जुड़े उपबंध अनुच्छेद 214-232 (भाग VI) में, अधीनस्थ न्यायालयों के प्रावधान अनुच्छेद 233-237 (भाग VI) में, जबकि अधिकरणों से संबंधित प्रावधान अनुच्छेद 323(क) व 323(ख) [भाग-XIV(क)] में दिये गए हैं। शेष प्रयोग विभिन्न अधिनियमों (Acts) या कार्यकारी आदेशों (Executive Orders) के आधार पर किये जा रहे हैं।

भारत की न्यायपालिका : एक परिचय (Judiciary of India : An Introduction)

न्यायपालिका के विभिन्न स्तर *(Different Levels of Judiciary)*

भारत में न्यायपालिका के तीन प्रमुख स्तर हैं। सबसे ऊपर सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) है, जिसका प्रमुख कार्य केंद्र-राज्य विवादों तथा विभिन्न राज्यों के आपसी विवादों पर विचार करना है। नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा करना, संविधान की अंतिम व्याख्या करना तथा सिविल व आपराधिक मामलों में अपीलों की अंतिम सुनवाई करना भी इसके कार्यों में शामिल है।

सर्वोच्च न्यायालय के बाद दूसरे स्तर पर उच्च न्यायालय (High Court) हैं, जो किसी राज्य की न्यायपालिका के सर्वोच्च स्तर पर स्थित हैं। केंद्र-राज्य विवादों या विभिन्न राज्यों के आपसी विवादों पर इनका क्षेत्राधिकार नहीं है, किंतु इन विषयों को छोड़कर ये राज्य की सीमाओं के भीतर प्राय: वे सभी कार्य करते हैं जो सर्वोच्च न्यायालय देश के स्तर पर करता है। ध्यातव्य है कि उच्च न्यायालय न्यायिक दृष्टि से सर्वोच्च न्यायालय के अधीन होते हैं, किंतु प्रशासनिक दृष्टि से वे स्वतंत्र हैं। सर्वोच्च न्यायालय उनके निर्णयों को बदल सकता है, उनके न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा स्थानांतरण कर सकता है; पर उच्च न्यायालयों के प्रशासन को नियंत्रित नहीं कर सकता।

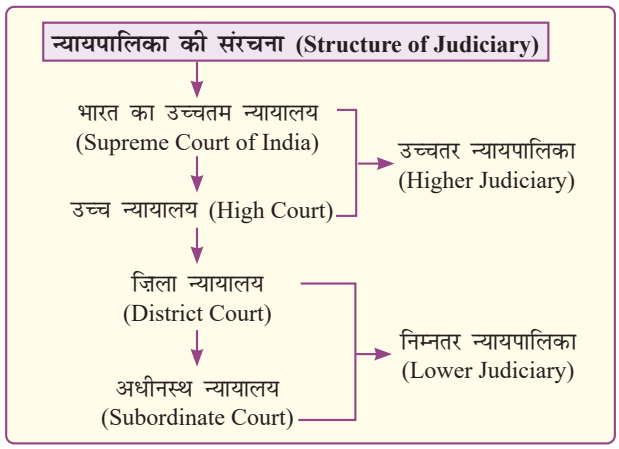

उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय को सम्मिलित रूप से 'उच्चतर न्यायपालिका' (Higher Judiciary) कहा जाता है। इसके विपरीत, उच्च न्यायालयों से नीचे के सभी न्यायालयों को सम्मिलित रूप से 'निम्नतर न्यायपालिका' (Lower Judiciary) या 'अधीनस्थ न्यायपालिका' (Subordinate Judiciary) कहा जाता है।

अधीनस्थ न्यायपालिका के भी कई उप-स्तर हैं। इनमें सर्वोच्च स्तर पर ज़िला एवं सत्र न्यायालय (District and Session Court) होता है तथा उसके नीचे दो से तीन स्तरों पर उसके अधीन काम करने वाले अन्य न्यायालय। ये सभी न्यायालय प्रशासनिक दृष्टि से उच्च न्यायालय के प्रत्यक्ष नियंत्रण में काम करते हैं। संबंधित उच्च न्यायालय इनके निर्णयों की अपील तो सुनता ही है; साथ ही उनके प्रशासन की निगरानी भी करता है। अधीनस्थ न्यायालयों के न्यायाधीशों का स्थानांतरण, उनके कार्य की समीक्षा आदि उसी के हाथ में होती है।

न्यायपालिका के इस परंपरागत ढाँचे के अलावा कुछ अधिकरण (Tribunals) भी स्थापित किये जाते हैं जो किसी विशेष विभाग या विशेष अधिनियम से जुड़े मामलों को देखते हैं। अधिकरणों की व्यवस्था मूल संविधान में नहीं थी हालाँकि अधिनियमों के माध्यम से उनके गठन की प्रक्रिया संविधान बनने के कुछ वर्ष बाद ही शुरू हो गई। संविधान के '42वें संशोधन अधिनियम, 1976' के माध्यम से अधिकरणों को संवैधानिक स्तर प्रदान करने के लिये संविधान में भाग XIV-क जोड़ा गया, जिसमें दो अनुच्छेद 323(क) तथा 323(ख) शामिल हैं। संवैधानिक स्तर के अधिकरणों का गठन इन्हीं अनुच्छेदों के तहत बनाए गए अधिनियमों के अनुसार किया जाता है। हालाँकि अभी भी अधिकांश मामलों में सामान्य अधिनियमों के माध्यम से अधिकरण गठित करने का चलन है। अधिकरणों की ही तरह कुछ आयोग (Commission), बोर्ड (Board) तथा फोरम (Forum) भी कार्यरत हैं जो अपनी कार्य-शैली में अधिकरणों के काफी नज़दीक हैं।

14 संघवाद एवं केंद्र-राज्य संबंध (Federalism and Centre-State Relations)

संघवाद (Federalism)

ध्यातव्य है कि भारतीय संविधान का संघीय चरित्र इसकी प्रमुख विशेषताओं में से एक है, हालाँकि भारतीय संविधान में कहीं भी महासंघ या फेडरेशन (Federation) शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। बल्कि इसके स्थान पर भारतीय संविधान में भारत को 'राज्यों के संघ' के रूप में संबोधित किया गया है। दरअसल, कई जानकार मानते हैं कि भारत एक अर्द्ध-संघीय देश है अर्थात् यह एक ऐसा संघीय राज्य है जिसमें एकात्मक सरकार की भी कुछ विशेषताएँ मौजूद हैं।

क्या है? *(What is?)*

ज्ञातव्य है कि संघवाद (Federalism) शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द 'Foedus' से हुई है जिसका अर्थ है एक प्रकार का समझौता या अनुबंध।

वास्तव में महासंघ दो तरह की सरकारों के बीच सत्ता साझा करने और उनके संबंधित क्षेत्रों को नियंत्रित करने हेतु एक समझौता है।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि संघवाद सरकार का वह रूप है जिसमें देश के भीतर सरकार के कम-से-कम दो स्तर मौजूद हैं- पहला केंद्रीय स्तर पर और दूसरा स्थानीय या राज्यीय स्तर पर।

भारत की स्थिति में संघवाद को स्थानीय, केंद्रीय और राज्य सरकारों के मध्य अधिकारों के वितरण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

सहकारी बनाम प्रतिस्पर्द्धी संघवाद *(Cooperative Vs Competitive Federalism)*

केंद्र और राज्य सरकार के बीच संबंधों के आधार पर संघवाद की अवधारणा को दो भागों में विभाजित किया गया है (1) सहकारी संघवाद (2) प्रतिस्पर्द्धी संघवाद।

सहकारी संघवाद

सहकारी संघवाद में केंद्र व राज्य एक-दूसरे के साथ क्षैतिज संबंध स्थापित करते हुए एक-दूसरे के सहयोग से अपनी समस्याओं को हल करने का प्रयास करते हैं। सहकारी संघवाद की इस अवधारणा में यह स्पष्ट किया जाता है कि केंद्र और राज्य में से कोई भी किसी से श्रेष्ठ नहीं है।

- जानकारों का मानना है कि यह राष्ट्रीय नीतियों के निर्माण और कार्यान्वयन में राज्यों की भागीदारी सुनिश्चित करने के लिये एक महत्त्वपूर्ण उपकरण है।
- संघ और राज्य संवैधानिक रूप से संविधान की 7वीं अनुसूची में निर्दिष्ट मामलों पर एक-दूसरे के साथ सहयोग करने हेतु बाध्य हैं।

प्रतिस्पर्द्धी संघवाद

- प्रतिस्पर्द्धी संघवाद में केंद्र सरकार और राज्य सरकारों के मध्य संबंध लंबवत् होते हैं, जबकि राज्य सरकारों के मध्य संबंध क्षैतिज होते हैं।
- गौरतलब है कि प्रतिस्पर्द्धी संघवाद की अवधारणा को देश में 1990 के दशक के आर्थिक सुधारों के बाद से महत्त्व प्राप्त हुआ।
- प्रतिस्पर्द्धी संघवाद में राज्यों को आपस में और केंद्र के साथ लाभ के उद्देश्य से प्रतिस्पर्द्धा करनी होती है।
- सभी राज्य धन और निवेश को आकर्षित करने के लिये एक-दूसरे के साथ प्रतिस्पर्द्धा करते हैं, ताकि विकास संबंधी गतिविधियों को बढ़ावा दिया जा सके।
- सामान्यत: निवेशक अपने पैसे का निवेश करने के लिये अधिक विकसित राज्यों को पसंद करते हैं।
- उल्लेखनीय है कि प्रतिस्पर्द्धी संघवाद भारतीय संविधान की मूल संरचना का हिस्सा नहीं है।

केंद्र-राज्य संबंध (Centre-State Relation)

केंद्र-राज्य संबंध से आशय किसी लोकतांत्रिक राज्य में केंद्र एवं उसकी इकाइयों (राज्यों) के मध्य आपसी संबंधों से है। लोकतांत्रिक शासन प्रणाली के उदय के साथ राजव्यवस्था में केंद्र-राज्य संबंधों की एक नई अवधारणा का जन्म हुआ। दोहरे शासन की व्यवस्था संघवाद की एक प्रमुख विशेषता है। भारत में भी संविधान ने शासन के दो स्तरों की स्थापना की है, जिसमें केंद्र में एक संघीय सरकार है तथा चारों तरफ परिधि में राज्य सरकारें हैं।

भारतीय संविधान के **अनुच्छेद** 1 में उल्लेख किया गया है कि भारत अर्थात् इंडिया **राज्यों का संघ होगा**। भारत में शासन की संघीय प्रणाली को अपनाया गया है जिसमें समस्त शक्तियों को केंद्र एवं राज्यों के बीच संविधान के प्रावधानों के अनुसार विभाजित किया गया है। संविधान के **भाग-XI** में **संघ और राज्यों के बीच संबंध** के दो अध्याय दिये गए हैं, जिसके पहले अध्याय में **विधायी संबंध** (अनुच्छेद 245-255) तथा दूसरे अध्याय में **प्रशासनिक संबंध** (अनुच्छेद 256-263) का जिक्र है। जहाँ तक **वित्तीय संबंधों** का सवाल है तो उनकी चर्चा भाग-XII के कुछ हिस्सों (मुख्यत: 268-293) में की गई है।

- भारतीय संविधान का स्वरूप संघात्मक है।
- भारत के लिये शब्द **फेडरेशन** की जगह यूनियन (संघ) शब्द का प्रयोग किया गया है।
- भारत में संघीय प्रणाली का प्रावधान **कनाडा** के संविधान से लिया गया है। कनाडा के समान ही भारत में संविधान के अनुसार संघ एवं राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन किया गया है।
- भारतीय संविधान संघात्मक होते हुए भी इसमें अवशिष्ट शक्तियाँ संघ को प्रदान करके उसे शक्तिशाली बनाया गया है जिससे इसका स्वरूप एकात्मक रूप की तरह आभास होता है। संविधान संघात्मक

15 विकेंद्रीकरण एवं लोकतांत्रिक शासन में जनभागीदारी
(Public Participation in Decentralization and Democratic Governance)

लोकतंत्र वास्तविक अर्थों में तभी सफल होता है जब राजनीतिक शक्ति आम आदमी के हाथों में पहुँच जाती है। इसका आदर्श रूप यह होना चाहिये कि आम आदमी के पास स्थानीय मुद्दों, जैसे पानी, सड़क, सफाई आदि के प्रशासन में निर्णायक भूमिका हो तथा व्यापक स्तर के मुद्दों के लिये उसे अपने प्रतिनिधि चुनने तथा उनसे संवाद व सवाल-जवाब करने का हक हो जो उसकी ओर से कानून बनाने तथा प्रशासन चलाने की प्रक्रिया में शामिल हो। आजकल इस आदर्श को 'सहभागितामूलक लोकतंत्र' (Participatory Democracy) कहा जाता है।

आजकल दुनिया भर में सहभागितामूलक लोकतंत्र की बयार चल रही है और वह हर देश के सत्ताधारियों को बाध्य कर रही है कि वे शक्ति का अधिकाधिक विकेंद्रीकरण करें। सामान्य राय यह बनती जा रही है कि स्थानीय महत्त्व के मुद्दों पर निर्णय की शक्ति उसी स्तर की लोकतांत्रिक संस्थाओं को सौंपी जानी चाहिये और ऊपर के स्तरों पर वही काम किये जाने चाहिये जो नीचे के स्तरों पर न किया जा सके। भारत में भी 'लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण' और 'स्थानीय स्वशासन' (Local Self Government) की धारणाएँ नई नहीं हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में यही धारणा 'पंचायती राज' कहलाती है जबकि शहरी क्षेत्रों में 'नगरपालिका' या 'नगर निगम'।

विकेंद्रीकरण व्यवस्था के आधार पर ही सच्चे लोकतंत्र की कल्पना की जा सकती है जो लोकतंत्र का मूल आधार है। इसके संदर्भ में विभिन्न विचारकों के विचार निम्नलिखित हैं–

- **एल डी. व्हाइट के अनुसार :** "जब सत्ता को ऊपरी स्तर से निचले स्तर पर ले जाया जाता है, तब उसे विकेंद्रीकरण कहते हैं।"
- **हेनरी फेयोल के अनुसार :** "जिस संकल्पना में निचले स्तर के लोगों के महत्त्व में वृद्धि होती है, उसे विकेंद्रीकरण कहते हैं।"
- **महात्मा गांधी के अनुसार** लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण में **ग्राम स्वराज** की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।
- गांधी जी का मानना था कि प्रत्येक आँख से आँसू पोंछना ही सच्चे लोकतंत्र का पर्याय है, क्योंकि भारत की अधिकांश जनता गाँवों में निवास करती है, जिनकी परिस्थिति एवं समस्याएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। इसके निदान के लिये ग्रामीण जनता का सत्ता में अधिक से अधिक भागीदारी होना आवश्यक है, जिससे वे अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं ढूंढ सकें।

गांधी जी ने कहा था कि यदि गाँव नष्ट हो गए तो भारत भी नष्ट हो जाएगा। इसी प्रकार पंडित जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि यदि हमारी स्वाधीनता को जनता की आवाज की प्रतिध्वनि बनना है तो पंचायतों को जितनी अधिक शक्ति मिले, जनता के लिये उतनी ही भली है। भारत में पंचायतें प्राचीन काल से ही किसी न किसी रूप में विद्यमान रही हैं, जिसे बहुत पुरानी पंच परमेश्वर की अवधारणा से जोड़ा गया है। इसी संदर्भ में कहा जाता है कि भारत गाँवों में बसता है।

- महात्मा गांधी के सपनों को साकार करने के लिये **73वाँ संविधान संशोधन अधिनियम 1992** पारित करके पंचायती राज व्यवस्था को संवैधानिक एवं स्थायी स्वरूप प्रदान करके विकेंद्रीकरण की अवधारणा को प्रतिपादित किया गया है।
- 73वाँ संविधान संशोधन अधिनियम का अनुपालन करने वाला **मध्य प्रदेश**, देश का **प्रथम राज्य** है, जिसने मध्य प्रदेश पंचायती राज अधिनियम-1993 पारित तथा लागू किया।
- 1864 में ब्रिटिश सरकार के एक प्रस्ताव द्वारा स्थानीय स्वशासन को मान्यता प्रदान की गई।
- 1870 में लॉर्ड मेयो ने पंचायतों को कार्यात्मक एवं वित्तीय स्वायत्तता प्रदान की।
- 1882 में तत्कालीन **वायसराय लॉर्ड रिपन** ने स्थानीय स्वशासन के लिये एक प्रस्ताव पारित किया, जिसके द्वारा पूरे देश में- उपखंड अथवा तालुका बोर्ड, ज़िला बोर्ड आदि स्थापित करने का सुझाव दिया। इस प्रस्ताव को 'स्थानीय स्वशासन' का **मैग्ना कार्टा** कहा जाता है। लॉर्ड रिपन को स्थानीय स्वशासन का 'जनक' (पिता) माना जाता है।
- भारत सरकार अधिनियम (1919) के द्वारा, स्थानीय स्वशासन (पंचायती राज) को केंद्रीय विषय से हटाकर, राज्य का विषय बनाया गया। 1935 के अधिनियम द्वारा स्थानीय स्वशासन को पूर्णतया राज्य का विषय बना दिया गया।

पंचायती राज – 73वाँ संविधान संशोधन (Panchayati Raj – 73rd Constitutional Amendment)

ग्राम पंचायत का मूल उद्देश्य गाँवों की उन्नति करना और ग्रामवासियों को आत्मनिर्भर बनाना है। 1950 में संविधान लागू होने और 1993 में पंचायती राज को संवैधानिक दर्जा मिलने के बीच की यात्रा कई उतार-चढ़ावों से गुज़रती है। इस यात्रा के प्रमुख चरण इस प्रकार हैं-

- 1951 में फोर्ड फाउंडेशन के सहयोग से सामुदायिक विकास कार्यक्रम के कुछ प्रयोग संचालित हुए हैं जो काफी हद तक सफल रहे हैं। इन प्रयोगों का निष्कर्ष यह था कि जनता की सीधी भागीदारी के बिना विकास की कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती है।
- 2 अक्टूबर, 1952 को देश के 55 विकास खंडों में सामुदायिक विकास कार्यक्रम की शुरुआत की गई। तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू की पहल पर इसको प्रारंभ किया गया। इन कार्यक्रमों को पंचायती राज कार्यक्रम के अंतर्गत तो नहीं रखा गया परंतु पंचायती राज की पृष्ठभूमि से इसका विशेष महत्त्व रहा है।

16 आपातकालीन उपबंध (Emergency Provisions)

सामान्य परिस्थितियों में भारतीय संविधान संघात्मक ढाँचे का अनुसरण करता है, परंतु हमारे संविधान निर्माताओं को इस बात का अहसास था कि यदि देश की सुरक्षा खतरे में हो या उसकी एकता और अखंडता को खतरा हो तो यह ढाँचा परेशानी का कारण भी बन सकता है। ऐसी परिस्थितियों में देश की रक्षा के लिये परिसंघ के सिद्धांतों को त्याग दिया जाता है और जैसे ही देश की स्थितियाँ सामान्य होती हैं, संविधान पुनः अपने सामान्य रूप में कार्य करने लगता है।

भारतीय संविधान निर्माताओं ने संविधान के भाग 18 के अनुच्छेद (352-360) में तीन प्रकार के आपातों का उल्लेख किया है–

- युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह की स्थिति से उत्पन्न आपात, जिसे आम-बोलचाल में **राष्ट्रीय आपात** कहा जाता है। हालाँकि संविधान में इसके लिये **आपात की उद्घोषणा** शीर्षक का प्रयोग हुआ है।
- राज्यों में संवैधानिक तंत्र के विफल हो जाने की स्थिति से उत्पन्न परिस्थिति। प्रचलित भाषा में इसे **राष्ट्रपति शासन** के नाम से जाना जाता है। **संविधान में इसके लिये कहीं भी आपात या आपातकाल शब्द का उल्लेख नहीं मिलता है।**
- ऐसी स्थिति जिसमें भारत का वित्तीय स्थायित्व या साख संकट में हो तो उसे **वित्तीय आपात** कहते हैं। संविधान में भी इसे **वित्तीय आपात** कहा गया है।

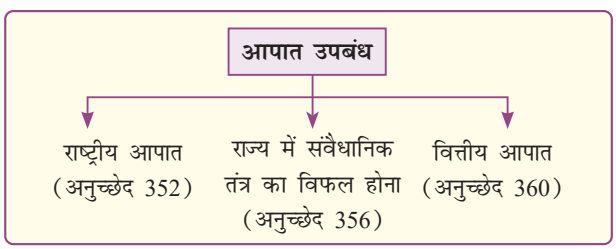

राष्ट्रीय आपात (National Emergency)

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 352 के अनुसार राष्ट्रपति को आपात की उद्घोषणा करने की शक्ति प्राप्त है यदि उसे यह समाधान हो जाता है कि, **युद्ध, बाह्य आक्रमण** या **सशस्त्र विद्रोह** के कारण भारत या उसके किसी क्षेत्र की सुरक्षा संकट में है। जरूरी नहीं कि संकट वास्तव में मौजूद हो यदि संकट सन्निकट है तो भी उद्घोषणा की जा सकती है। 44**वें संविधान संशोधन** द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि राष्ट्रपति ऐसी उद्घोषणा केवल तभी कर सकता है जब संघ का मंत्रिमंडल (Cabinet) इस संदर्भ में अपने विनिश्चय की सूचना **लिखित** रूप में प्रदान करे।

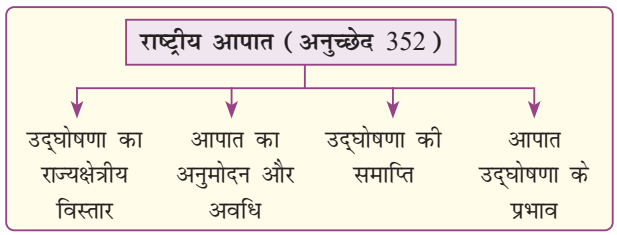

मूल संविधान में आपात की उद्घोषणा का आधार 'युद्ध', 'बाह्य आक्रमण' और 'आंतरिक अशांति' था परंतु 44**वें संविधान संशोधन** के द्वारा 'आंतरिक अशांति' के स्थान पर 'सशस्त्र विद्रोह' को आधार बनाया गया।

मूल संविधान में इस बात की कोई चर्चा नहीं थी कि आपात की एक ही उद्घोषणा की जा सकती है या एकाधिक उद्घोषणाएँ भी संभव हैं। **38वें संविधान संशोधन 1975** द्वारा अनुच्छेद 352 में एक नया खंड जोड़कर यह स्पष्ट किया गया कि राष्ट्रपति को इस अनुच्छेद के तहत विभिन्न आधारों पर एक ही समय में विभिन्न घोषणाएँ करने की शक्ति होगी, चाहे राष्ट्रपति ने पहले से कोई उद्घोषणा कर रखी हो और वह प्रवर्तन में हो।

नोट: भारतीय संविधान में केवल अनुच्छेद 352 में ही एक बार मंत्रिमंडल (Cabinet) शब्द का प्रयोग हुआ है, शेष सभी स्थानों पर मंत्रिपरिषद शब्द का उल्लेख है।

उद्घोषणा का राज्यक्षेत्रीय विस्तार
(Territorial extension of the proclamation)

मूल संविधान में विशिष्ट तौर पर यह नहीं कहा गया था कि आपात की उद्घोषणा को भारत के किसी विशिष्ट भाग तक भी सीमित किया जा सकता है। इसका अर्थ यह निकाला जाता था कि समस्या चाहे देश के किसी विशिष्ट भाग तक ही सीमित क्यों न हो परंतु आपात की उद्घोषणा पूरे देश के लिये की जाएगी। **42वें संविधान संशोधन 1976** द्वारा राष्ट्रपति को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह आपात की उद्घोषणा को पूरे भारत या उसके किसी विशिष्ट क्षेत्र तक भी सीमित रख सकता है। यह संशोधन युक्तियुक्त और तर्कसंगत है जैसे यदि संकट लद्दाख पर हो तो यह आवश्यक नहीं कि कन्याकुमारी में भी आपात लागू किया जाए। संकट किस क्षेत्र पर है, इसका निर्णय राष्ट्रपति करेगा। यहाँ राष्ट्रपति के निर्णय का अर्थ मंत्रिमंडल के निर्णय से है।

आपात का अनुमोदन और अवधि
(Approval and duration of emergency)

44वें संविधान संशोधन 1978 से पूर्व उद्घोषणा दो मास तक की अवधि तक विधिमान्य और प्रवर्तन में रहती थी। किंतु यदि दो मास की अवधि के समाप्त होने से पूर्व संसद के दोनों सदन सामान्य बहुमत

17 संविधान संशोधन (Constitution Amendment)

भारत में संविधान संशोधन की शक्ति संसद को दी गई है, इसका प्रावधान संविधान के **भाग XX के अनुच्छेद 368** में किया गया है। भारतीय संविधान में संशोधन की यह प्रक्रिया **दक्षिण अफ्रीका** के संविधान से ग्रहण की गई है। परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है और इस गतिमान ब्रह्मांड में कोई भी चीज सदैव गतिहीन नहीं रह सकती। कोई भी संविधान निर्मात्री सभा यह दावा नहीं कर सकती कि उनके द्वारा निर्मित संविधान सर्वकालिक प्रकृति का सिद्ध होगा। इसका मूल कारण यह है कि हम भविष्य की सभी बातों का अनुमान लगा ही नहीं सकते और कोई भी ढाँचा हर काल और हर परिस्थिति का सामना नहीं कर सकता। समय के साथ-साथ उसमें परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती ही है। इसलिये यही उचित है कि संविधान में ही उसके संशोधन का तरीका बता दिया जाए अन्यथा इस बात की पूरी संभावना है कि नई पीढ़ी उसे नष्ट करके अपनी आवश्यकतानुसार नया संविधान गढ़े।

संशोधन की प्रक्रिया (Procedure of Amendment)

किसी भी संविधान में दो तरीकों से संशोधन संभव है-

- अदृश्य या अनौपचारिक प्रक्रिया द्वारा
- दृश्य या औपचारिक प्रक्रिया द्वारा

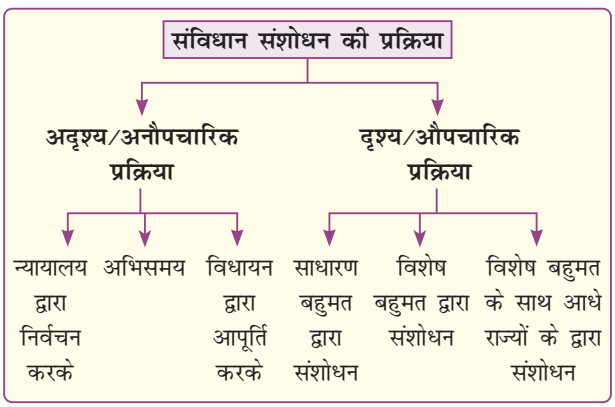

अदृश्य या अनौपचारिक प्रक्रिया *(Invisible or Informal Procedure)*

इस प्रक्रिया में घोषित तौर पर संविधान में संशोधन नहीं किया जाता परंतु फिर भी संविधान में परिवर्तन आ जाता है। इसके मुख्यत: तीन तरीके हैं-

- **न्यायालय द्वारा निर्वचन करके**- यदि उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय संविधान के किसी उपबंध की मौलिक व्याख्या कर दे तो वह व्याख्या ही उस प्रावधान का वास्तविक अर्थ मानी जाती है जैसे- विभिन्न लोकहित वादों में संविधान के **अनुच्छेद 21** की व्याख्या में बहुत सी ऐसी बातें जुड़ी हैं जो मूल संविधान में नहीं थीं।
- **अभिसमय अर्थात् संवैधानिक परंपराओं के पालन द्वारा**- राष्ट्रपति की जेबी वीटो या 'पाकेट वीटो' राष्ट्रपति- मंत्रिपरिषद संबंध, बहुमत स्पष्ट न होने पर राष्ट्रपति द्वारा सबसे बड़े दल के नेता को आमंत्रित करना आदि अभिसमय के ही उदाहरण हैं।
- **विधायन द्वारा आपूर्ति करके**- जैसे- नागरिकता अधिनियम, 1955 आदि।

दृश्य या औपचारिक प्रक्रिया *(Visible or formal procedure)*

इस प्रक्रिया में संविधान में बताए गए तरीके से संशोधन होता है। यह परिवर्तन की घोषित और प्रकट प्रक्रिया है। भारत के संविधान में यह तीन तरीके से संभव है-

(क) कुछ उपबंधों में साधारण बहुमत द्वारा

(ख) कुछ उपबंधों में विशेष बहुमत द्वारा

(ग) कुछ उपबंधों में विशेष बहुमत के साथ आधे राज्यों के विधानमंडलों के अनुसमर्थन द्वारा संशोधन

(क) संसद के साधारण बहुमत द्वारा संशोधन

संविधान के जिन उपबंधों का विशेष संवैधानिक महत्त्व नहीं है उनमें संशोधन करने के लिये अत्यंत लचीली प्रक्रिया अपनाई गई है। ध्यातव्य है कि इन उपबंधों में संशोधन को अनुच्छेद 368 के तहत संविधान का संशोधन नहीं माना जाता है। ये उपबंध दो प्रकार के हैं-

- **जहाँ संविधान का पाठ नहीं बदलता परंतु विधि में परिवर्तन आ जाता है**- जैसे अनुच्छेद 11 के तहत नागरिकता संबंधी विधि बनाने की शक्ति संसद को है परंतु अनुच्छेद 5 से 10 तक के अनुच्छेद वैसे ही लिखे रहेंगे। अनुच्छेद 124 में आज भी लिखा है कि भारत का उच्चतम न्यायालय एक मुख्य न्यायाधीश और सात से अनधिक न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा जबकि संसद ने न्यायाधीशों की संख्या 7 से बढ़ाकर 34 कर दी है।
- **जहाँ संविधान का पाठ परिवर्तित हो जाता है**- ऐसे कुछ प्रमुख उपबंध निम्न हैं-
  - नए राज्य का निर्माण या विद्यमान राज्यों के नाम या सीमा में परिवर्तन
  - पहली, चौथी, पाँचवीं, छठी अनुसूची के विषय
  - विधान परिषद का सृजन या उत्सादन
  - संघ राज्यक्षेत्रों के लिये विधानमंडल या मंत्रिपरिषद या दोनों का सृजन

18 लोकतंत्र की कार्यप्रणाली (Methodology of Democracy)

लोकतंत्र में समस्त जनता शासन में भागीदार होती है और शासन की वैधता का स्रोत भी जनता है। लोकतंत्र वह व्यवस्था है जिसमें जनता सरकार को निर्णय लेने, कानूनों का निर्माण करने और उन्हें लागू करने का अधिकार प्रदान करती है। जनसंख्या की अधिकता के कारण आज अप्रत्यक्ष लोकतंत्र का प्रचलन है जिसमें जनता अपने प्रतिनिधि के माध्यम से निर्णय प्रक्रिया में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करती है। राजतंत्र के विपरीत इन प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित सरकार को अपने निर्णयों एवं उठाए गए कदमों के संदर्भ में जनता को आधार बताना होता है और स्पष्टीकरण देना होता है। इस प्रकार निर्णय प्रक्रिया में जनता की भागीदारी सुनिश्चित होती है।

लोकतंत्र (शाब्दिक अर्थ 'लोगों का शासन', संस्कृत में लोक, 'जनता' तथा तंत्र, 'शासन' या प्रजातंत्र एक ऐसी शासन व्यवस्था है, जिसमें जनता अपना शासक खुद चुनती है। यह शब्द लोकतांत्रिक व्यवस्था और लोकतांत्रिक राज्य दोनों के लिये प्रयुक्त होता है। यद्यपि लोकतंत्र शब्द का प्रयोग राजनीतिक संदर्भ में किया जाता है, किंतु लोकतंत्र का सिद्धांत दूसरे समूहों और संगठनों के लिये भी संगत है। सामान्यत: लोकतंत्र विभिन्न सिद्धांतों के मिश्रण से बनते हैं, पर मतदान को लोकतंत्र के अधिकांश प्रकारों का चरित्रगत लक्षण माना जाता है। राजनीतिक दल सत्ता प्राप्त कर सरकार बनाते हैं। सरकार बनाने के पश्चात् सरकार के संगठन के रूप भी वह दल कार्य करते है। वह दल सरकार की सहायता करते हैं तथा सरकार व दल के बीच स्थायित्व व सुसंबद्धता बनाए रखते हैं। प्रतिनिधित्व करना राजनीतिक दलों का प्राथमिक कार्य है। आधुनिक समाज, खासकर वर्तमान लोकतांत्रिक व्यवस्था में अप्रत्यक्ष लोकतंत्र प्रचलित है। इसमें नागरिक शासन व्यवस्था के प्रत्येक कार्य में सहभागिता न कर अपने प्रतिनिधि चुनते हैं, जो उनके एजेंट के रूप में कार्य करते हैं। सभी नागरिकों के पास सभी शासकीय कार्यों के लिये समय तथा उचित प्रशिक्षण नहीं है, इसलिये संसद, विधानसभाओं में भी प्रतिनिधि उन नागरिकों के हितानुरूप कार्य करते हैं, जिन्होंने उन्हें चुनकर भेजा है। राजनीतिक दल भी एक बड़े प्रतिनिधि (एजेंट) के रूप में कार्य करते है। वह जनता के सामने अपनी विचारधारा, सिद्धांत व नीतियाँ रखते हैं और उसी आधार पर (अपने सदस्यों को विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों से उम्मीदवार बनाकर) जनता से समर्थन व वैधता जुटाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दल जन-शक्ति का प्रतिनिधित्व उन्हीं के प्रतिनिधि बनकर करते हैं। इसी प्रतिनिधित्व को ही प्राप्त करने के लिए राजनीतिक दल बार-बार चुनाव के माध्यम से नागरिकों के बीच जाते हैं और वोट रुपी सहमति प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, जिससे सत्ता प्राप्त की जा सके।

राजनीतिक प्रतिनिधित्व *(Political Representations)*

राजनीतिक प्रतिनिधित्व जनता द्वारा निर्वाचित व्यक्ति की तरफ संकेत करता प्रतीत होता है। राजनीतिक प्रतिनिधि ही निर्वाचित व्यक्ति होता है जो समूह का प्रतिनिधित्व करता है। राजनीतिक प्रतिनिधि एक ऐसा व्यक्ति होता है, जो किसी राजनीतिक समाज में शासन की प्रक्रिया को प्रभावित करने तथा प्रत्यक्ष रूप में भाग लेने का वैधिक अधिकार रखता है। ए.एच. विर्च ने इसको परिभाषित करते हुए कहा है-"राजनीतिक प्रतिनिधि एक ऐसा व्यक्ति होता है जो परंपरागत या कानून द्वारा एक राजनीतिक व्यवस्था में प्रतिनिधि का स्तर रखता है और प्रतिनिधि की भूमिका निभाता है।" इस दृष्टि से राजनीतिक प्रतिनिधित्व राजनीतिक प्रतिनिधि द्वारा राजनीतिक व्यवस्था की अदा की गई भूमिका का सूचक है।

निर्णयन प्रक्रिया में नागरिकों की भागीदारी (Citizens Participation in Decision Making Process)

लोकतंत्र का मूलभूत विचार यह है कि लोग नियम बनाने में भागीदार बनकर स्वयं ही शासन करें। सभी नागरिकों की समान भागीदारी लोकतंत्र का आधार स्तंभ है। यह भागीदारी **'सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार'** द्वारा सुनिश्चित होती है। यदि कोई सरकार अपने सभी वयस्क नागरिकों को मताधिकार प्रदान नहीं करती है तो वह निर्णय प्रक्रिया में नागरिकों को भागीदार होने से रोकती है और ऐसी सरकार **'लोकतांत्रिक'** नहीं कही जा सकती।

अप्रत्यक्ष लोकतंत्र में चुनाव के माध्यम से जनता अपना प्रतिनिधि चुनकर शासन में भागीदार बनती है। चुनाव के अलावा सरकार के कार्यों में रुचि लेकर और उसकी समीक्षा करके भी जनता अपनी भागीदारी सुनिश्चित करती है। हड़ताल, जुलूस, धरना-प्रदर्शन, हस्ताक्षर अभियान, आंदोलन आदि के द्वारा जनता सरकार के गलत निर्णयों को उसके सामने लाती है और उन्हें बदलने के लिये मजबूर करती है। अखबार, पत्र-पत्रिकाएँ, टेलीविजन, सोशल मीडिया आदि जनता के मुद्दों और सरकार के कार्यों पर बहुआयामी चर्चा करके जन-भागीदारी को बढ़ावा देते हैं।

प्रजा और नागरिक की अवधारणा में मुख्य विभेद भागीदारी का ही है। प्रजा राज्य के निर्णयों से प्रभावित तो होती है परंतु निर्णय लेने में उसकी कोई भूमिका नहीं होती जबकि लोकतंत्र में नागरिक राज्य के सभी कार्यों में भागीदार होते हैं। जनता की भागीदारी की गुणवत्ता प्राय: लोकतंत्र के मूल्यांकन के लिये आवश्यक मानी जाती है। अलोकतांत्रिक सरकार लोक-सहभागिता के सिद्धांत पर आधारित नहीं होती। अलोकतांत्रिक सरकार की संस्थाएँ भी अपने कार्यों के लिये लोगों के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। सत्तावादी, अधिनायकवादी, सर्वसत्तात्मक या सर्वाधिकारवादी सरकारें इसी के उदाहरण हैं। उनकी निर्णय प्रक्रिया पर लोक नियंत्रण व भागीदारी का अभाव है।

जन-भागीदारी, राजनीतिक प्रक्रिया और संस्थाओं को समझने का अवसर प्रदान करती है। इस प्रक्रिया में जनता न केवल सरकारों अथवा संस्थाओं बल्कि अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के बारे में अधिक शिक्षित

19 पारदर्शिता, जवाबदेही और अधिकार
(Transparency, Accountability and Rights)

लोकतंत्र में जवाबदेही, उत्तरदायित्व और पारदर्शिता, सुशासन के अनिवार्य अंग हैं। सरकार नीतियों के निर्माण और क्रियान्वयन के माध्यम से जन कल्याण और जनोन्मुखी प्रशासन का लक्ष्य सुनिश्चित करती है। लोकतंत्र का अर्थ तभी सार्थक हो सकता है जब सरकार जनता के प्रति अपनी जवाबदेही सुनिश्चित करे और प्रशासन में पारदर्शिता अपनाए। इसके लिये प्रशासनिक उत्तरदायित्व पर जन नियंत्रण आवश्यक है। प्रशासनिक उत्तरदायित्व को सरकारी कर्मचारियों के कर्त्तव्यों एवं ज़िम्मेदारी की व्यक्तिगत चेतना पर नहीं छोड़ा जा सकता। सुशासन की अवधारणा में पारदर्शिता और जवाबदेही आदि शासन की निरंकुशता पर नियंत्रण के लिये शक्तिशाली और प्रभावी उपाय हैं जो न केवल शासन को मार्ग पर भटकने से रोकते हैं अपितु उसे अधिकाधिक जनोन्मुखी भी बनाते हैं।

उत्तरदायित्व और नियंत्रण का संकेत यहाँ प्रशासन के उत्तरदायित्व तथा उसके पूर्ण पालन एवं सत्ता के दुरुपयोग रोकने से है। प्रशासनिक उत्तरदायित्व शब्द को जन संपत्ति की सुरक्षा के संबंध में अभिलेख रखने के सूचक के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है। उत्तरदायित्व की अवधारणा प्रशासकों की उस बाध्यता को परिभाषित करती है जिसके तहत उन्हें अपने कार्य निष्पादन का और उन्हें प्रदान की गई शक्तियों के प्रारूप का संतोषजनक लेखा-जोखा देना होता है। इसका मुख्य लक्ष्य मनमाने और गलत प्रशासनिक कार्यों को रोकना और प्रशासनिक प्रक्रिया की कार्यकुशलता तथा प्रभावशीलता को बढ़ाना है।

प्रशासन पर नियंत्रण मुख्यत: दो तरह से होता है–

1. आंतरिक नियंत्रण
2. बाह्य नियंत्रण

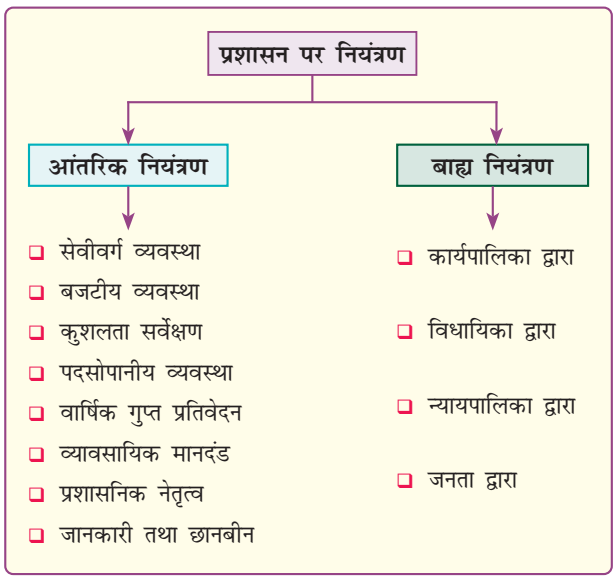

सूचना का अधिकार और सूचना आयोग (Right to Information and Information Commission)

सूचना का अधिकार अर्थात् राइट टू इन्फॉरमेशन का अर्थ है देश के नागरिकों को कुछ क्षेत्रों को छोड़कर (जिन्हें सार्वजनिक नहीं किया जा सकता) विभिन्न सूचनाएँ प्राप्त करने का अधिकार। सूचना के अधिकार के माध्यम से, कोई राष्ट्र अपने नागरिकों के लिये अपने कार्य और शासन प्रणाली को सार्वजनिक करता है।

लोकतंत्र में जनता अपनी पसंद के व्यक्ति को शासन करने का अवसर प्रदान करती है। जनता की आकांक्षा होती है कि सरकार पूरी ईमानदारी और कर्तव्यनिष्ठा के साथ अपने दायित्वों का पालन करे। परंतु समस्या यह है कि यह जन-निर्वाचित सरकार स्वयं को जनता का सेवक समझने के स्थान पर उसका अधिपति समझने लगी है। ऐसी सरकारों ने पारदर्शिता और ईमानदारी को किनारे कर दिया और धीरे-धीरे उन्होंने भ्रष्टाचार और कुशासन के कीर्तिमान स्थापित करना शुरू कर दिया। इस समस्या से निपटने के लिये अन्य उपायों के साथ-साथ यह भी ज़रूरी था कि देश की जनता जब चाहे तब सरकार और उसके विभिन्न विभागों की स्थिति के बारे में जानकारी ले सके। सरकार पर जन-नियंत्रण को धारदार बनाने के इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये जनता को सूचना का अधिकार प्रदान किया गया, ताकि जनता हर समय इस बात से अवगत रहे कि उसकी सेवा करने वाली सरकार वास्तव में क्या कर रही है? प्रत्येक नागरिक कर का भुगतान करता है अत: यह उसका अधिकार है कि उसको यह जानकारी दी जाए कि उसके द्वारा अदा की गई कर राशि का उपयोग किस प्रकार और किन-किन कार्यों के लिये किया जाता है।

सूचना के अधिकार की प्राप्ति का प्रयास वर्ष 1975 में "उत्तर प्रदेश सरकार बनाम राज नारायण" मामले से हुई। मामले की सुनवाई उच्चतम न्यायालय में हुई, जिसमें न्यायालय ने अपने आदेश में लोक प्राधिकारियों द्वारा सार्वजनिक कार्यों का ब्योरा जनता को प्रदान करने की व्यवस्था की। इस निर्णय ने नागरिकों को भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19(A) में प्रदत्त अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का दायरा बढ़ाकर सूचना के अधिकार को भी इसमें शामिल कर लिया। 2005 में संसद ने सूचना का अधिकार अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम में यह व्यवस्था की गई कि कोई नागरिक किस प्रकार सरकार से सूचना मांगेगा और सूचना देने के प्रति सरकार की जवाबदेही क्या होगी?

सूचना के अधिकार कानून का प्रावधान यह है कि प्रत्येक सार्वजनिक संस्था में सूचना अधिकारी की नियुक्ति होगी। यदि आवेदक को लगता है कि लोक सूचना अधिकारी द्वारा प्रदत्त सूचना अपर्याप्त है या आवेदक को सूचना नहीं दी जाती है तो आवेदक दो स्तरों पर अपील का अधिकार रखता है–

20 लोक सेवाएँ (Public Services)

भारत में लोक सेवाओं का आरंभ ब्रिटिश शासन की औपनिवेशिक आवश्यकताओं एवं साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं को ध्यान में रखते हुए अंग्रेज़ों के द्वारा किया गया था। कंपनी के शासनकाल में लोक सेवकों का चयन हेलीबेरी कॉलेज की एक चयन समिति तथा बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स द्वारा किया जाता था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार द्वारा ब्रिटिशकाल में प्रचलित लोक सेवाओं की योजना को कुछ परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिया गया।

ब्रिटिश शासनकाल में भारत में लोक सेवाओं का विकास निम्नलिखित रूप में हुआ-

- 1854 में एक आयोग (The committee on Indian civil services) का गठन किया गया था, जिसकी अध्यक्षता-मैकाले द्वारा की गई थी। लोक सेवकों की नियुक्ति, प्रतियोगी परीक्षा के आधार पर कराने के संबंध में सुझाव देने के लिये इस आयोग का गठन किया गया था।
- 1855 में लंदन में भारतीय सिविल सेवा की पहली प्रतियोगी परीक्षा आयोजित की गई थी।
- 1866 में भारत में सिविल सेवा परीक्षा की न्यूनतम आयु सीमा **18 वर्ष** से घटाकर **17 वर्ष** कर दी गई, जिसके विरोध में **सर सुरेंद्रनाथ बनर्जी** के नेतृत्व में, 1866 में एक प्रबल आंदोलन हुआ जो भारत में सिविल सेवा मे प्रवेश की आयु घटाने के संदर्भ में था।
- 1886 में वायसराय लॉर्ड डफरिन ने सर चार्ल्स एचिसन की अध्यक्षता में एचिसन आयोग का गठन किया जो सिविल सेवा में आयु से संबंधित मामले के संदर्भ में था। आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिये-
  - सिविल सेवा परीक्षाएँ **एक साथ इंग्लैंड** और **भारत** में न ली जाए।
  - सिविल सेवा परीक्षा में बैठने की **अधिकतम आयु 23 वर्ष** की जाए।
- 1912 में इस्लिंगटन की अध्यक्षता में एक अन्य आयोग का गठन हुआ। इस आयोग ने सुझाव दिया कि सिविल सेवा की प्रतियोगी परीक्षा - **इंग्लैंड** तथा **भारत** में एक साथ ली जाए।
- सर्वप्रथम 1922 में सिविल सेवा की परीक्षा एक साथ **लंदन** तथा **इलाहाबाद** में आयोजित हुई।

वे सेवाएँ जो भारत की केंद्रीय सरकार के प्रत्यक्ष नियंत्रण में थीं उन्हें केंद्रीय सेवाओं का नाम दिया गया तथा इन सेवाओं में नियुक्ति गवर्नर जनरल के द्वारा की जाती थी। सिविल सेवाओं को ऐसा व्यवस्थित रूप, भारत शासन अधिनियम के द्वारा प्रदान किया गया।

- 1926 में **ली आयोग** के सुझाव पर पहली बार **लोक सेवा आयोग** की स्थापना केंद्रीय लोक सेवा आयोग के रूप में की गई, जिसमें एक अध्यक्ष तथा चार अन्य सदस्य थे। इसके प्रथम अध्यक्ष **सर रोज वार्कर** थे।
- भारत सरकार अधिनियम, 1935 के तहत इस केंद्रीय लोक सेवा आयोग का नाम बदलकर **संघीय लोक सेवा आयोग** कर दिया गया।
- भारत सरकार अधिनियम, 1935 द्वारा भारत में पहली बार लोक सेवा आयोग की स्थापना की गई है।
- 26 जनवरी, 1950 को भारतीय संविधान लागू होने पर लोक सेवा आयोग का नाम बदलकर **संघ लोक सेवा आयोग (U.P.S.C)** कर दिया गया।

लोक सेवाओं की संवैधानिक स्थिति (Constitutional Status of Public Services)

लोक सेवाओं के संदर्भ में जिस प्रकार की योजना ब्रिटिश शासनकाल में प्रचलित थी, उस योजना को स्वतंत्रता के उपरांत भारत में अपनाने के लिये भारतीय संविधान में कुछ आवश्यक परिवर्तन करके उसे स्वीकार कर लिया गया। लोक सेवाओं की संवैधानिक स्थिति के संबंध में भारतीय संविधान के भाग-14 के अनुच्छेद 308 से 314 तक में, भारत की लोक सेवाओं के संबंध में प्रावधान किया गया है।

भारत की प्रमुख लोक सेवाएँ

अखिल भारतीय सेवाएँ	केंद्रीय सेवाएँ	राज्य सेवाएँ
❑ भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS)	❑ भारतीय विदेश सेवा	❑ सिविल सेवा
❑ भारतीय पुलिस सेवा (IPS)	❑ केंद्रीय विधिक सेवा	❑ पुलिस सेवा
❑ भारतीय वन सेवा (IFS)	❑ केंद्रीय स्वास्थ्य सेवा	❑ वन सेवा
	❑ केंद्रीय सूचना सेवा	❑ चिकित्सा सेवा
	❑ केंद्रीय अभियांत्रिकी सेवा	❑ मत्स्य सेवा
	❑ भारतीय अर्थशास्त्र सेवा	❑ शिक्षा सेवा
	❑ भारतीय डाक सेवा	❑ जेल सेवा
	❑ विदेश संचार सेवा	❑ न्यायिक सेवा
	❑ भारतीय मौसम विज्ञान सेवा	❑ सहकारी सेवा
	❑ भारतीय सैन्य लेखा सेवा	❑ बिक्री कर सेवा
	❑ रेल कार्मिक सेवा	❑ अभियांत्रिकी सेवा
	❑ भारतीय सांख्यिकी सेवा	❑ पशु चिकित्सा सेवा
	❑ केंद्रीय सचिवालय सेवा	
	❑ भारतीय राजस्व सेवा (आय कर, सीमा कर व उत्पाद कर)	❑ कृषि सेवा
	❑ भारतीय लेखा एवं परीक्षा सेवा	❑ जन-स्वास्थ्य सेवा

21 लोक व्यय एवं लेखा
(Public Expenditure and Accounting)

लेखा परीक्षण (अंकेक्षण) सार्वजनिक वित्त पर संसदीय नियंत्रण का एक प्रमुख साधन है। लेखा परीक्षण के अंतर्गत लेखांकन एवं लेखों की सत्यता की जाँच की जाती है। इसके माध्यम से विधायिका यह पता लगाती है कि उसके द्वारा स्वीकृत धन, स्वीकृत कार्यों और शर्तों के अनुसार खर्च हुआ है या नहीं? विधायिका यह भी पता लगाती है कि जनहित के लिये स्वीकृत धन के भुगतानों में कोई हेराफेरी, लापरवाही अथवा फिजूलखर्ची तो नहीं की गई है। इस संबंध में **एफ.ए. निग्रो** ने कहा है कि- "सार्वजनिक लेखों की सत्यता तथा सरकारी लेन-देन की वैधानिकता की जाँच के लिये लेखा परीक्षण आवश्यक है"।

लेखा परीक्षण के उद्देश्य *(Objectives of Audit)*

इसका परीक्षण करना कि-

- विभागों ने बजट के अनुसार खर्च किया है या नहीं।
- व्यय आवश्यक प्रशासनिक स्वीकृतियों के अनुरूप किया गया है अथवा नहीं।
- धन को वित्तीय औचित्य के अनुसार व्यय किया गया है अथवा नहीं।
- लेखों की शुद्धता और संपूर्णता को सुनिश्चित करना।
- वित्त की सुरक्षा करना।
- व्यय की नियमितता को सुनिश्चित करने के लिये लेखों का परीक्षण करना।
- सरकारी व्यय के संबंध में उत्तरदायित्व सुनिश्चित करना।
- वित्तीय स्थिति का सही-सही पता लगाना।
- यह सुनिश्चित करना कि कार्यपालिका द्वारा किये गए व्यय के वांछित परिणाम निकले हैं या नहीं।
- व्यय करते समय सामान्य एवं वित्तीय विवेक के अनुरूप ही धन व्यय किया गया है।

लेखा परीक्षण के प्रकार *(Types of Audit)*

लेखा परीक्षण मुख्यतः चार प्रकार के होते हैं-

1. **पूर्व लेखा परीक्षणः** जब कोई राशि शासन द्वारा व्यय की जाती है तो व्यय-पूर्व उसकी वैधता निर्धारण करने हेतु की जाने वाली जाँच को पूर्व लेखा परीक्षण कहते हैं।
2. **उत्तर लेखा परीक्षणः** शासन द्वारा व्यय हो जाने के पश्चात् जब व्यय के लेखांकन की जाँच की जाती है तो इसे उत्तर लेखा परीक्षण कहते हैं।
3. **आंतरिक लेखा परीक्षणः** जब कोई विभाग किसी प्रकार का कोई व्यय करता है और उसके इस व्यय की जाँच उसी विभाग के अन्य अधिकारियों द्वारा की जाती है तो इसे आंतरिक लेखा परीक्षण कहते हैं।
4. **बाह्य लेखा परीक्षणः** जब किसी विभाग द्वारा किये गए व्यय की जाँच-पड़ताल लेखा परीक्षक के कार्यालय द्वारा की जाती है तो उसे बाह्य लेखा परीक्षण कहते हैं।

सार्वजनिक निधि का उपयोग (Use of Public Fund)

सरकार के पास जो भी धन होता है, उसे सार्वजनिक निधि कहते हैं। सार्वजनिक निधि के द्वारा ही सरकार अपने सभी प्रकार के व्यय करती है और विभिन्न लोक कल्याणकारी कार्य करती है। सरकार अपने उपक्रमों से जो धन प्राप्त करती है वह भी सार्वजनिक निधि के अंतर्गत आता है। इस प्रकार वास्तव में सार्वजनिक निधि राष्ट्र की निधि है और सरकार का दायित्व है कि वह उसका सदुपयोग करे। भारतीय संविधान में सार्वजनिक निधि के संबंध में तीन प्रकार के खातों का उल्लेख है- संचित निधि, आकस्मिक निधि, लोक लेखा।

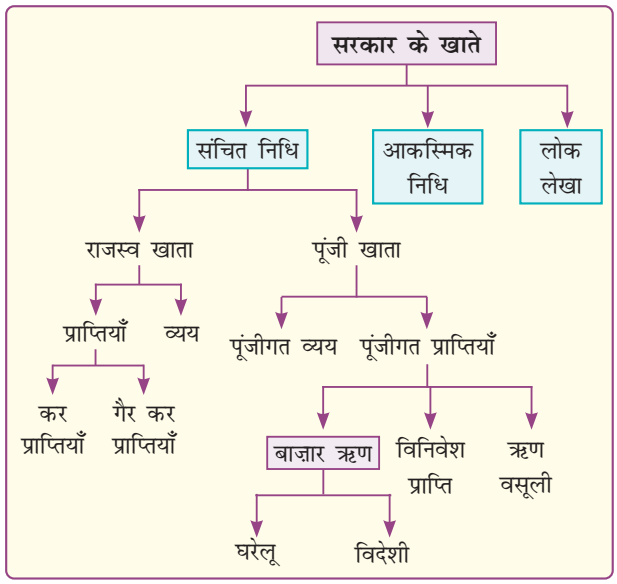

संचित निधि (अनुच्छेद 266) *(Consolidated funds)*

यह एक ऐसी निधि है, जिसमें से सभी प्राप्तियाँ उधार ली जाती हैं और भुगतान जमा किये जाते हैं। दूसरे शब्दों में-

- भारत सरकार द्वारा प्राप्त सभी राजस्व,
- राजकोषीय विधेयकों, ऋणों या अग्रिम अर्थोपाय को जारी तथा केंद्र सरकार द्वारा लिये गए सभी ऋण,
- ऋणों की पुनर्अदायगी में सरकार द्वारा प्राप्त धनराशि भारत की संचित निधि का भाग होगी। भारत सरकार की ओर से विहित प्राधिकृत

22 स्वयं सहायता समूह (Self Help Groups)

स्वयं सहायता समूह विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति हेतु आपसी सहयोग से निर्मित वे छोटे एवं स्वैच्छिक समूह हैं जो समस्तरीय व्यक्तियों द्वारा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने, सामान्य समस्याओं से छुटकारा पाने तथा उसमें सामान्य एवं व्यक्तिगत परिवर्तन लाने हेतु निर्मित होते हैं। इनके निर्माण का पहलकर्त्ता सामाजिक अंत:क्रिया और सभी सदस्यों के व्यक्तिगत उत्तरदायित्व पर बल देता है। स्वयं सहायता समूह का गठन 5–20 सदस्य मिलकर स्वेच्छा से करते हैं किंतु यह हो सकता है कि कोई सरकारी संगठन, स्वैच्छिक संस्था या कोई कार्यकर्त्ता सदस्यों को समूह बनाने के लिये प्रेरित करे। स्वयं सहायता समूह के निर्माण का उद्देश्य सदस्यों को निर्धनता से मुक्ति दिलाना तथा आर्थिक स्वावलंबन प्राप्त कराना होता है। स्वयं सहायता समूह के सदस्य प्राय: समाज हित, समजातीय, समवर्गीय तथा एक–दूसरे को जानने वाले होते हैं अर्थात् इनमें विषमता नहीं पाई जाती। समूह की कार्यप्रणाली, नियमावली तथा पदाधिकारियों का निर्णय सामूहिक रूप से स्वयं सहायता समूह करता है।

स्वयं सहायता समूह लोगों को कई प्रकार से लाभान्वित करते हैं। उदाहरण के तौर पर ये समूह के सदस्यों में बचत की भावना का विकास करते हैं। सदस्यों को निर्धनता से मुक्ति और आर्थिक स्वावलंबन का रास्ता दिखाते हैं। साथ ही ये समूह निर्धन व्यक्तियों के लिये एकता, भाईचारा, साहस, कुरीति निवारण तथा सामान्य समस्याओं के समाधान के लिये साझा मंच उपलब्ध कराते हैं। स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से सदस्यों को न सिर्फ लोकतांत्रिक कार्यप्रणाली की जानकारी एवं उपादेयता का पता चलता है बल्कि समूह के सदस्यों की चेतना, ज्ञान, कौशल एवं आत्मविश्वास में भी वृद्धि होती है। इन समूहों के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों पर चर्चा के साथ सुधार के भी कदम उठाए जाते हैं।

स्वयं सहायता समूह का उद्देश्य केवल वित्तीय मध्यस्थता ही नहीं होता बल्कि यह स्वप्रबंधन व विकास के जरिये कम लागत वाली वित्तीय सेवाओं की उपलब्धता सुनिश्चित करने के लक्ष्य को लेकर संचालित होता है। दूसरे शब्दों में उसका उद्देश्य ग्रामीण निर्धनों के ऋण की ज़रूरतों की पूर्ति के लिये पूरक ऋण नीतियाँ बनाना है। साथ ही बैंकिंग गतिविधियों को बढ़ावा देना, बचत तथा ऋण के लिये सहयोग करना तथा समूह के सदस्यों के भीतर आपसी विश्वास और आस्था बढ़ाना भी इनके उद्देश्यों में शामिल हैं।

उत्पत्ति *(Origin)*

भारत में स्वयं सहायता समूहों की उत्पत्ति 1970 के दशक में मानी जाती है। वर्ष 1972 में डॉ. ईला रमेश भट्ट ने SEWA (सेल्फ इम्प्लॉयड वीमेंस एसोसिएशन) का गठन किया जिसने निर्धनता उन्मूलन, महिला रोज़गार व महिला सशक्तीकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। परंतु संगठित व व्यवस्थित रूप में संपूर्ण विश्व में स्वयं सहायता समूह की शुरुआत बांग्लादेश के नोबेल पुरस्कार विजेता मुहम्मद युसुफ के नेतृत्व में हुई। उनकी कार्य प्रणाली ने पूरे विश्व को प्रभावित किया। इसने लोगों में बचत की आदत डालने में महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त की।

स्वयं सहायता समूह की अवधारणा का जनक भारत का **ग्रामीण विकास मंत्रालय** है। मंत्रालय की मान्यता है कि इसके तहत आपसी सहयोग के द्वारा रोज़गार के अवसरों का सृजन तो होता ही है साथ ही साथ ऊँच–नीच, छुआछूत, जातीय और धार्मिक उन्माद जैसी व्यवस्थाएँ भी कमज़ोर पड़ती हैं। स्वयं सहायता समूह में 50% महिलाओं का समूह बनाना निश्चित किया गया है। भारत सरकार की ग्राम स्वरोज़गार योजना के तहत लाखों स्वयं सहायता समूह गठित किये जा चुके हैं।

स्वयं सहायता समूह और महिला सशक्तीकरण (Self Help Groups and Women Empowerment)

यद्यपि स्वयं सहायता समूह का मुख्य उद्देश्य गरीबी निवारण है परंतु उसने महिला सशक्तीकरण में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है। एक ओर तो ये महिलाओं को वित्त उपलब्ध कराकर उनकी आत्मनिर्भरता का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं तो दूसरी ओर उन्हें समग्र रूप से जागरूक भी कर रहे हैं, जिससे उनका सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक सशक्तीकरण हो रहा है। महिलाओं के द्वारा स्वयं सहायता समूह के सदस्य के रूप में कार्य करने से उनमें स्वनिर्णय की क्षमता का विकास हुआ है तथा बैंकों के साथ लेन–देन एवं कागजी कार्यवाहियाँ उनमें आत्मविश्वास जगाती हैं। स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से महिलाएँ आत्मनिर्भर हो रही हैं जिससे परिवार व समाज में उनकी स्थिति में परिवर्तन हो रहा है। इससे घरेलू हिंसा के मामलों में भी कमी आई है। स्वयं सहायता समूह में शामिल महिलाओं ने पंचायती राज को भी बेहतर बनाया है। उन्होंने ग्राम–सभा की बैठक में गाँव की समस्याओं को उठाया और पंचायत और प्रशासन का ध्यान आकृष्ट कर समस्याओं के समाधान में भी सक्रिय सहयोग दिया। गाँवों में स्कूल, आँगनबाड़ी, राशन दुकान की मॉनीटरिंग का कार्य करने के उत्तम प्रयास भी इन समूहों की महिलाओं के द्वारा किये गए।

इन समूहों के माध्यम से वित्तीय क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी अभूतपूर्व रूप से बढ़ी है। स्वयं सहायता समूह ने महिलाओं के कौशल उत्थान को भी बढ़ावा दिया है। जब महिलाओं को आर्थिक स्वावलंबन प्राप्त होता है तो वे सामाजिक, राजनीतिक और मानसिक मुक्ति भी हासिल करती हैं। सच तो यह है कि महिलाओं के अधिकारों की स्थापना, स्वावलंबन, स्वतंत्रता एवं समानता की प्राप्ति तथा गरिमापूर्ण जीवन की प्राप्ति में स्वयं सहायता समूह एक आंदोलन के रूप में उभरे हैं।

महिला सशक्तीकरण की दिशा में आशाजनक परिणाम मिलने के बावजूद महिलाओं के स्वयं सहायता समूह की प्रगति के बारे में कई बाधक तत्त्व दिखाई देते हैं, जिनमें से प्रमुख निम्न हैं–

23 मीडिया की भूमिका एवं समस्याएँ : इलेक्ट्रॉनिक, प्रिंट एवं सोशल मीडिया
(Role and Problems of Media : Electronic, Print and Social Media)

आधुनिक समय में मीडिया को लोकतंत्र का चौथा स्तंभ कहा जाता है। मीडिया के बिना लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं के सशक्तीकरण की कल्पना किया जाना असंभव है। एक ओर जहाँ मीडिया लोगों के दिलों में लोकतांत्रिक समाज व लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं के प्रति विश्वास भरती है, वहीं दूसरी ओर लोकतांत्रिक सरकार एवं संस्थाओं को जनसामान्य की आवश्यकताओं, कठिनाइयों एवं इच्छाओं से अवगत कराती है। मीडिया समाज के विभिन्न वर्गों, सत्ता के केंद्रों, व्यक्तियों तथा संस्थाओं के मध्य सेतु का कार्य करती है।

मीडिया : एक परिचय (Media : An Introduction)

सामान्य अर्थ में मीडिया एक माध्यम होता है जिसमें समाचार पत्र, मैगजीन, टी.वी., विज्ञापन, मेल, इंटरनेट, सोशल साइट्स को शामिल किया जाता है। मीडिया के माध्यम से लोगों के मध्य सूचनाओं का आदान-प्रदान होता है। मीडिया जनमानस को सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक रूप से जागरूक बनाता है। सामान्यत: यह कहा जा सकता है, कि मीडिया समाज का निर्माण व पुनर्निर्माण करता है। वर्तमान में मीडिया की क्षमताएँ किसी क्षेत्र, राज्य या देश तक सीमित नहीं है बल्कि इसने संसार के विभिन्न देशों के मध्य दूरियों को कम कर दिया है। मीडिया के वजूद के कारण संपूर्ण विश्व आज एक वैश्विक गाँव में परिवर्तित हो गया है।

सूचना आदान-प्रदान करने का माध्यम मानव सभ्यता के प्रारंभ से ही रहे हैं लेकिन तब माध्यम अलग रहे होंगे। प्राचीन काल में व्यापार एवं देशाटन के जरिये सूचनाओं का आदान-प्रदान किया जाता था। लेखन-कला के विकास के साथ सूचनाओं की विश्वसनीयता व संचार में वृद्धि हुई तथा देशकाल एवं समाज के बारे में साहित्य लेखन का युग प्रारंभ हुआ तथा इसका विश्व के दूसरे भागों में भी प्रचार-प्रसार हुआ। मध्यकाल तक आते-आते विश्व में लोगों का जुड़ाव बढ़ने लगा वे दूसरे क्षेत्रों की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थितियों के बारे में जागरूक होने लगे। कागज निर्माण के पश्चात् सूचनाओं का फैलाव वैश्विक स्तर पर तीव्र गति से होने लगा।

विज्ञान एवं तकनीक के विकास से जन संचार के स्वरूप में परिवर्तन होने लगा और समय के साथ-साथ आधुनिक मीडिया का जन्म हुआ जिसमें सर्वप्रथम मुद्रण अर्थात् छपाई का आविष्कार हुआ। प्रारंभिक युग में मुद्रण एक कला थी, लेकिन आधुनिक युग में पूर्णतया तकनीकों पर आधारित व्यवसाय हो गया। मुद्रण कला पत्रकारिता के क्षेत्र में विकसित, पल्लवित तथा तकनीकी रूप में परिवर्तित हुई।

जर्मनी के **जॉन गुटेनवर्ग** ने सन् **1454-55** में दुनिया का **पहला छापाखाना (प्रिंटिंग प्रेस)** लगाया तथा 1456 में बाइबिल की 300 प्रतियों को प्रकाशित कर पेरिस भेजा गया। मुद्रण कला जर्मनी से आरंभ होकर यूरोपीय देशों के माध्यम से संपूर्ण विश्व में फैल गई जिस कारण समाचार-पत्र, पत्रिकाओं, किताब तथा लेखा-पत्रों के प्रसार की गति बढ़ गई। भारत में छपने वाला पहला साप्ताहिक समाचार पत्र **बंगाल गजट** 1780 में **कोलकाता** से प्रकाशित हुआ जिसके संपादक **जेम्स ऑगस्ट्स हिक्की** थे।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के समय समाचार पत्रों, लेखों व पत्रिकाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। इन्होंने भारतीय जनमानस को राजनीतिक व सामाजिक रूप से जागरूक करने का कार्य किया तथा उनमें देशभक्ति तथा आत्मविश्वास की भावना का संचार किया। वर्तमान भूमंडलीकरण के युग में मीडिया सामाजिक प्रबंधन की एक सशक्त संस्था बनकर उभरी है। आधुनिक युग में मीडिया किसी राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का प्रतिबिंब बनकर उभरा है। वह जनता के दृष्टिकोण एवं विचारों को प्रभावित करती है। विभिन्न देशों में हुई सामाजिक एवं राजनैतिक क्रांतियों में मीडिया की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

भारत में अंग्रेजी सत्ता की समाप्ति, देश की जनता को जागरूक करने, ब्रिटिश साम्राज्य का असली चेहरा जनता के समक्ष लाने तथा स्वतंत्रता संघर्ष में जनभागीदारी सुनिश्चित करने में मीडिया ने अपनी भूमिका का बेहतरीन तरीके से निर्वहन किया था।

वर्तमान में मीडिया जनता तक सूचना, शिक्षा और मनोरंजन पहुँचाने का एक माध्यम है तथा यह संचार का सरल और सक्षम साधन है, जो अर्थव्यवस्था के समग्र विकास में मुख्य भूमिका निभाता है। ऐसे युग में जहाँ ज्ञान और तथ्य आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के साधन हैं, वहाँ सुदृढ़ और रचनात्मक मीडिया की मौजूदगी व्यष्टियों, संपूर्ण समाज, लघु और वृहत् व्यवसाय तथा उत्पादन गृहों, विभिन्न अनुसंधान संगठनों, निजी क्षेत्रों तथा सरकारी क्षेत्रों की विविध आवश्यकताओं को पूरा करने में महत्त्वपूर्ण है।

मीडिया की विभिन्न क्षेत्रों में भूमिका को निम्नलिखित बिंदुओं के तहत समझ सकते हैं-

- मीडिया राष्ट्र के अंत:करण का रक्षक है तथा जनता के दिन-प्रतिदिन के जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।
- सरकार को विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक लक्ष्य हासिल करने में सहायता करता है।
- शहरी और ग्रामीण जन समूह को शिक्षित करने, लोगों के बीच उत्तरदायित्व की भावना जागृत करने और जरूरतमंदों को न्याय प्रदान करने में सहायता करता है।
- मीडिया देश में मजबूत व्यापार माहौल का सृजन करने के अतिरिक्त सूचना और शिक्षा मुहैया कराने तथा राष्ट्रीय नीति और कार्यक्रम के प्रति लोगों में जागरूकता लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

24 राजनीतिक गत्यात्मकताएँ (Political Dynamics)

भारत की राजनीति संविधान के अनुसार काम करती है, क्योंकि भारत एक संघीय (संसदीय) लोकतांत्रिक गणराज्य है। भारतीय राजनीति को गतिशीलता प्रदान करने हेतु विभिन्न कारकों का योगदान है, जैसे– जाति, धर्म, लिंग, भाषा आदि भारतीय राजनीति को प्रभावित करती है, परंतु भारत की इस विविधता का जब राजनीतिक दलों द्वारा राजनीतिकरण कर दिया जाता है तो यह एक सुचारु राजनीति में बाधा भी उत्पन्न करती है।

भारतीय राजनीति में धर्म, जाति, वर्ग, नृजातीयता, भाषा एवं लिंग की भूमिका (Role of Religion, Caste, Class, Ethnicity, Language and Gender in Indian Politics)

भारतीय समाज एक परंपरावादी एवं विविधतापूर्ण समाज रहा है। इस परंपरावादी एवं विविधतापूर्ण समाज में आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना भारतीय राजनीति की एक अद्भुत विशेषता है। भारत में आधुनिक राजनीति स्थापित होने के बाद इस अवधारणा का विकास हुआ था कि पश्चिमी शैली की राजनीति और लोकतांत्रिक मूल्यों को अपनाने के बाद भारत की पारंपरिक राजनीतिक संस्थाओं में जाति, धर्म, भाषा एवं लिंग आधारित विविधता का अंत हो जाएगा, किंतु स्वतंत्रता के बाद भारत की राजनीति में धर्म, जाति, भाषा एवं लिंग का प्रभाव अनवरत रूप से बढ़ता गया। जहाँ सामाजिक क्षेत्र में इनका प्रभाव कम हुआ है, वहीं बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों, केंद्र एवं राज्य सरकारों ने राजनीति में इनकी भूमिका स्वीकार की है।

भारतीय राजनीति में धर्म *(Religion in Indian Politics)*

भारतीय राजनीति के निर्धारक तत्त्वों में 'धर्म और सांप्रदायिकता' को अत्यंत प्रभावशाली माना गया है। जहाँ एक ओर धर्म का प्रयोग तनाव उत्पन्न करने के लिये किया जाता है, वहीं दूसरी ओर धर्म को प्रभाव और शक्ति अर्जित करने का एक माध्यम भी मान लिया जाता है। धर्म के नाम पर राजनीतिक दलों का निर्माण, चुनावों में समर्थन एवं मत प्राप्त करने के लिये धर्म का सहारा लेना, धर्म के नाम से जनता से अपील करना, आश्वासन देना, निर्वाचनों में धर्म के आधार पर प्रत्याशियों का चयन करना तथा मतदान व्यवहार में धर्म का राजनीतिक स्वरूप देखने को मिलता है। वहीं यह भी सत्य है कि भारतीय संविधान ने पंथनिरपेक्ष सिद्धांत को अपनाया है। भारतीय राजनीति में धर्म की निम्नलिखित भूमिका देखी जाती है–

राजनीतिक दलों में धर्म की भूमिका

स्वतंत्रता पूर्व ही भारत में धर्म के आधार पर राजनीतिक दलों का निर्माण होने लगा था, जैसे– मुस्लिम लीग, हिंदू महासभा आदि। धर्म के नाम पर भारत का विभाजन होने के बावजूद ये राजनीतिक दल न केवल अस्तित्व में रहे बल्कि धार्मिक सांप्रदायिकता को बढ़ावा देते रहे हैं। ये सांप्रदायिक दल धर्म को राजनीति में प्रधानता देते रहें। धर्म के आधार पर प्रत्याशियों का चुनाव करते हैं और संप्रदाय के नाम पर वोट मांगते हैं। चुनाव के समय गोवध पर रोक लगाना, मंदिर-मस्जिद के निर्माण का मुद्दा आदि उठाकर ये दल चुनावी गतिविधियों को दुष्प्रभावित करते हैं। वर्तमान में भारत की लगभग सभी राष्ट्रीय एवं राज्य स्तरीय राजनीतिक दलों में यह प्रवृत्ति देखी जाती है। वे न केवल धर्म को चुनाव का आधार बनाते हैं बल्कि उसके नाम पर वोट की राजनीति भी करते हैं।

धार्मिक दबाव गुट की राजनीति में भूमिका

धार्मिक संगठन भारतीय राजनीति में सशक्त दबाव समूह की भूमिका अदा करते हैं। ये समूह न केवल शासन की नीतियों को प्रभावित करते हैं बल्कि अपने पक्ष में अनुकूल निर्णय भी करवाते हैं। उदाहरण के रूप में हिंदुओं की आपत्ति और आलोचना के बावजूद 'हिंदू कोड बिल' पास कर दिया गया, किंतु अन्य संप्रदाय के संबंध में कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठाया। भारत में कई मुस्लिम संगठनों के विरोध के कारण एक समान सिविल संहिता का निर्माण नहीं हो सका है। 'ट्रिपल तलाक' अमानवीय होने के बावजूद इसके समर्थन में सरकारें शांत रही हैं और मुस्लिम पर्सनल लॉ में कोई तब्दीली नहीं की गई है। हिंदू परिषद के दबाव के कारण ही उच्चतम न्यायालय को फरवरी 2003 में भूमि पूजन पर लगाई गई रोक को वापस लेना पड़ा।

पृथक् राज्यों की मांग में धर्म की भूमिका

अनेक बार अप्रत्यक्ष रूप से पंथ के आधार पर पृथक् राज्य की मांग भी की जाती है। पंजाब में अकाली दल द्वारा अलग राज्य की मांग ऊपरी स्तर पर तो भाषायी नज़र आती है परंतु यथार्थ रूप से यह धर्म के आधार पर पृथक् राज्य की मांग थी। नवंबर 1949 ई. में मास्टर तारासिंह ने पूर्वी पंजाब में एक 'सिक्ख प्रांत' की मांग करते हुए कहा, 'पूर्वी पंजाब के हिंदू संकीर्ण हृदय वाले संप्रदायी हो गए और सिक्खों को उनसे उचित व्यवहार की आशा नहीं रह गई है, पुराने पंजाब राज्य के विभाजन का आधार धर्म ही रहा है। आगे कुछ ऐसा ही नगालैंड के ईसाई समुदाय ने भी पृथक् राज्य की मांग का आधार तैयार किया।

मंत्रिमंडल के निर्माण में धर्म की भूमिका

केंद्र एवं राज्यों के मंत्रिमंडल के निर्माण में भी हमेशा इस बात को ध्यान में रखा जाता है कि प्रमुख धार्मिक संप्रदायों के लोगों को उनमें प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाए। केंद्रीय मंत्रिमंडल के निर्माण में मुस्लिम, सिक्ख और ईसाइयों को सदैव प्रतिनिधित्व दिया जाता है।

राज्यों की राजनीति में धर्म की भूमिका

धर्म और विभिन्न सांप्रदायिक समुदायों की भारतीय राज्यों की राजनीति में काफी भूमिका देखी जा सकती है। उदाहरण के लिये केरल

25 भारतीय राजनीतिक विचारक (Indian Political Thinkers)

कौटिल्य (Kautilya)

प्रारंभिक जीवन *(Initial life)*

कौटिल्य प्राचीन भारत के महान राजनीतिक प्रशासनिक विचारक थे। कौटिल्य के अन्य नाम चाणक्य व विष्णुगुप्त हैं। उन्हें 'चाणक्य' (चणक गोत्रीय ब्राह्मण होने के कारण) भी कहा जाता है। चाणक्य चंद्रगुप्त मौर्य के महामंत्री थे। उन्होंने चंद्रगुप्त मौर्य की सहायता से नंद वंश को समाप्त किया और चंद्रगुप्त मौर्य को मगध का सम्राट बनवाया। कौटिल्य ने **अर्थशास्त्र** की रचना की। इसमें राजनीति-प्रशासन संबंध और प्रशासनिक व्यवस्था पर विस्तृत विवरण मिलता है जिनमें से अनेक व्यवस्थाओं को आज भी प्रशासन में देखा जाता है। राजनीति का प्रकांड पंडित कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित प्रशासनिक व्यवस्था का समर्थन करता है और उसे सुशासन का आधार मानता है।

कौटिल्य की शिक्षा/दर्शन व नीतिशास्त्र *(Kautilya's Education/Philosophy and Ethics)*

कौटिल्य की पुस्तक अर्थशास्त्र से उनकी शिक्षा व नीति के बारे में जानकारी मिलती है। अर्थशास्त्र में मुख्यत: राजनीति व प्रशासन के मध्य संबंधों व प्रशासन जैसे मूल्यों पर प्रकाश डाला गया है। अर्थशास्त्र में 15 अधिकरण व 28 प्रकरण है।

राज्य की अवधारणा

कौटिल्य राज्य के विषय में दैवी सिद्धांत को अस्वीकार करते हैं, उसकी जगह सामाजिक समझौते के पक्षधर हैं। उनका मत है कि जब लोग मत्स्य न्याय से तंग आ गए तब उन्होंने मनु को अपना राजा चुना। अपनी कृषि उपज का छठा भाग राजस्व रूप में लेकर राजा ने उनकी सुरक्षा तथा कल्याण की ज़िम्मेदारी ली। इस प्रकार सामाजिक समझौते के तहत राज्य की उत्पत्ति हुई। राजा प्रजा से राजस्व की वसूली करता है, इसके बदले वह लोगों के कल्याण हेतु कार्य करता है।

राज्य के तत्त्व

- **सप्तांग सिद्धांत:** कौटिल्य ने राज्य की तुलना मानव शरीर से की है। जिस प्रकार मानव शरीर के सभी अंग मिल-जुलकर अपना कार्य करते हैं, उसी प्रकार राज्य के सभी अंगों को मिलकर अपने कर्त्तव्य/उत्तरदायित्व का निर्वहन करना चाहिये। राज्य के सात तत्त्व निम्नलिखित हैं–
- **स्वामी (राजा):** इसे राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। राजा को एक आदर्श पुरुष होना चाहिये तथा उसमें सभी अच्छी विशेषताएँ एवं गुण होने चाहिये। चाणक्य के अनुसार राजा महत्त्वाकांक्षी, धर्म में रुचि रखने वाला, सत्यवादी, परिश्रमी व दूरदर्शी होना चाहिये। वह चरित्रवान, योग्य, गुणियों की पहचान करने वाला तथा उनका आदर करने वाला होना चाहिये। स्वामी (राजा) राज्य के शीर्ष (सिर) के समान है।
- **अमात्य (मंत्री):** योग्य और गुणी अधिकारी जो कार्यों का निष्पादन करें। यह राज्य की आँखें हैं। मंत्रियों को चरित्रवान व निपुण होना चाहिये।

26 राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक संवैधानिक/सांविधिक संस्थाएँ (National & Regional Constitutional/Statutory Institutions)

नीति आयोग *(NITI Aayog)*

सरकार ने योजना आयोग के स्थान पर नीति आयोग (राष्ट्रीय भारत परिवर्तन संस्थान) नामक नया संस्थान 1 जनवरी, 2015 को बनाया है। यह एक संविधानेतर निकाय है। यह संस्थान सरकार के थिंक टैंक के रूप में सेवाएँ प्रदान करेगा और उसे निर्देशात्मक एवं नीतिगत गतिशीलता प्रदान करेगा। नीति आयोग केंद्र और राज्य स्तरों पर सरकार को नीति के प्रमुख कारकों के संबंध में प्रासंगिक महत्त्वपूर्ण एवं तकनीकी परामर्श उपलब्ध कराएगा। इसमें आर्थिक मोर्चे पर राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय आयात, देश के भीतर, साथ-साथ अन्य देशों की बेहतरीन पद्धतियों का प्रसार, नए नीतिगत विचारों का समावेश और विशिष्ट विषयों पर आधारित समर्थन से संबंधित मामले शामिल होंगे। 15 मार्च, 1950 को जिस प्रस्ताव के माध्यम से योजना आयोग की स्थापना की गई थी उसके स्थान पर नया प्रस्ताव लाया गया है। सरकार ने यह कदम राज्य सरकारों, विशेषज्ञों तथा प्रासंगिक संस्थानों सहित सभी हितधारकों से व्यापक विचार-विमर्श के बाद उठाया है।

नीति आयोग के प्रमुख प्रस्तावित कार्य (Significant Proposed Functions of NITI Aayog)

- विकास प्रक्रिया में निर्देश और रणनीतिक परामर्श देगा।
- केंद्र से राज्यों की तरफ चलने वाले एकपक्षीय नीतिगत क्रम को एक महत्त्वपूर्ण विकासवादी परिवर्तन के रूप में राज्यों की वास्तविक और सतत् भागीदारी से बदल दिया जाएगा।
- राज्यों के साथ सतत् आधार पर संरचनात्मक सहयोग की पहल और तंत्र के माध्यम से सहयोगपूर्ण संघवाद को बढ़ावा देगा।
- ग्राम स्तर पर विश्वसनीय योजना तैयार करने के लिये तंत्र विकसित करेगा और इसे उत्तरोत्तर उच्च स्तर तक पहुँचाएगा। आयोग राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों, प्रैक्टिशनरों तथा अन्य हितधारकों के सहयोगात्मक समुदाय के ज़रिये ज्ञान, नवाचार, उद्यमशीलता सहायक प्रणाली बनाएगा।
- इसके अतिरिक्त आयोग कार्यक्रमों और नीतियों के क्रियान्वयन के लिये प्रौद्योगिकी उन्नयन और क्षमता निर्माण पर ज़ोर देगा।

नीति आयोग के प्रमुख उद्देश्य (Significant Objectives of NITI Aayog)

- नए भारत को प्रशासनिक परिवर्तन की आवश्यकता है, जिसमें सरकार सक्षमकारी होगी, न कि पहला और आखिरी सहारा। खाद्य सुरक्षा से आगे बढ़कर कृषि उत्पादन के मिश्रण तथा किसानों को उनकी उपज से मिलने वाले वास्तविक लाभ पर ध्यान केंद्रित किया जाएगा।
- भारत समान विचार वाले वैश्विक मुद्दों, विशेषकर जिन क्षेत्रों पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया है, पर बहसों और विचार-विमर्शों में सक्रिय भूमिका निभाएगा।
- आर्थिक रूप से जीवंत मध्यवर्ग की भागीदारी बनाए रखने के लिये इसकी क्षमता का पूर्ण दोहन सुनिश्चित किया जाएगा।
- उद्यमशीलता, वैज्ञानिक और बौद्धिक मानव-पूंजी से भारत के भंडार का लाभ उठाया जाएगा।
- प्रवासी भारतीय समुदाय की भौगोलिक-आर्थिक और भौगोलिक-राजनीतिक शक्ति को शामिल किया जाएगा।
- आधुनिक तकनीकी के इस्तेमाल से संपूर्ण और सुरक्षित आवास सुविधा के लिये अवसर के रूप में शहरीकरण का इस्तेमाल किया जाएगा।
- शासन में जटिलता और परेशानियों की संभावनाओं को कम करने के लिये प्रौद्योगिकी का प्रयोग किया जाएगा।

नीति आयोग की संरचना, उद्देश्य और कार्य (Structure, Purpose & Functions of NITI Aayog)

योजना आयोग का गठन एक मंत्रिमंडलीय प्रस्ताव के ज़रिये 15 मार्च, 1950 को किया गया था। इसके लगभग 65 वर्षों के बाद देश ने अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था से उभरते वैश्विक परिदृश्य की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्थाओं में से एक के रूप में स्वयं को परिवर्तित किया है। राजनीतिक रूप से भी बहुलवाद को व्यापक तरीके से अंगीकार किया गया है और सरकारी विनियंत्रण में संघीय सर्वसहमतियों को नया आकार दिया है। इन बदली हुई परिस्थितियों में देश के राज्य केंद्र के केवल अनुबंध बनकर नहीं रहना चाहते। वे आर्थिक विकास और प्रगति के निर्धारण में अपना निर्णायक अधिकार चाहते हैं। एक ही सिद्धांत वाले दृष्टिकोण में अनावश्यक तनाव उत्पन्न करने और राष्ट्रीय प्रयास की संपूर्णता को कमतर बनाने की क्षमता होती है, जो केंद्रीय योजना में प्राय: अंतर्निहित होती है।

भारत के बदलाव की गतिशीलता के हृदय में प्रौद्योगिकी क्रांति और सूचनाओं तक बेहतर पहुँच और उन्हें साझा करने की भावना अंतर्निहित है। इस बदलाव की प्रक्रिया में कुछ परिवर्तनों का जहाँ अनुमान लगाया जाता है और योजना बनाई जाती है, इनमें से कई बाज़ार तत्त्वों और बड़े वैश्विक बदलावों के परिणामस्वरूप हैं। हमारे संस्थानों और राजनीति का उद्भव और परिपक्वता भी केंद्रीकृत योजना की भूमिका को निम्न बना देती है, जिसे पुन:परिभाषित करने की ज़रूरत है।

भारत में प्रभावी शासन निम्नलिखित स्तंभों पर आधारित होगा-

- जनता पर अत्यधिक केंद्रित कार्यक्रम जो समाज के साथ-साथ व्यक्ति की भी आकांक्षा पूरी करता हो।
- जनता की ज़रूरतों का अनुमान लगाने और उन्हें पूरा करने में अत्यधिक सक्रियता।
- नागरिकों की भागीदारी।
- सभी परिप्रेक्ष्यों में महिलाओं का सशक्तीकरण।

खंड B

अंतर्राष्ट्रीय संबंध

27 भारत का अन्य देशों से संबंध तथा प्रमुख संगठन एवं संस्थाएँ (India's Relations with other Countries and Important Organizations & Institutions)

अंतर्राष्ट्रीय संबंध (International Relations)

अंतर्राष्ट्रीय संबंध से तात्पर्य दो या अधिक राष्ट्रों के मध्य संबंधों के स्वरूप से है, जिसमें राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं सामरिक संबंध स्थापित होते हैं। दो या दो से अधिक राष्ट्रों के मध्य संबंधों का निर्धारण अनेक पहलुओं के द्वारा निर्धारित होता है, जिसमें शामिल हैं- राष्ट्र की शासन व्यवस्था, भौगोलिक अवस्थिति, संसाधनों की उपलब्धता, सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक विकासक्रम, विचारधारा एवं ऐतिहासिक मूल्य इत्यादि। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को अंतर्राष्ट्रीय संगठन, वैश्विक व्यापार प्रतिरूप एवं नेतृत्व क्षमता भी प्रभावित करती है। राष्ट्र की सुरक्षा एवं संपन्नता को सुनिश्चित करने के लिये न सिर्फ पड़ोसी देशों के साथ बल्कि अन्य राष्ट्रों के साथ भी सकारात्मक एवं सौहार्द्रपूर्ण संबंध सहायक सिद्ध होते हैं।

चूँकि मध्य युग तक राष्ट्र-राज्यों का अस्तित्व ही नहीं था, तकनीकी दृष्टि से उस समय से पूर्व अंतर्राष्ट्रीय संबंध भी संभव नहीं थे। तथापि, इस बात के स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है कि प्राचीन काल में अंतर्राष्ट्रीय मामलों को उजागर करने वाली राजनीतिक गतिविधियाँ प्रत्यक्ष थीं। हालाँकि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में राष्ट्र-राज्य व्यवस्था की अवधारणा के उदय के संकेत 1648 की वेस्टफेलिया की संधि (Westphalia Treaty) से मिलते हैं, जिसने यूरोप में तीस वर्षों (1618-1648) के युद्ध को समाप्त कर दिया। यह संधि राज्य व राज्य-व्यवस्था को कानूनी मान्यता देती थी। वास्तव में इसके द्वारा दो राज्यों- स्विट्ज़रलैंड और नीदरलैंड का निर्माण हुआ। इसके बाद यूरोपीय शासकों ने रोमन कैथोलिक चर्च की सत्ता को अस्वीकार कर दिया।

कालांतर में राष्ट्र-राज्य की अवधारणा ने न केवल विभिन्न अर्थ एवं रूप ग्रहण किये हैं बल्कि इसकी सत्ता ने नवीन उपलब्धियों का भी सामना किया है। हाल के वर्षों में व्यापार, उत्पादन और वित्त का वैश्वीकरण, संचार एवं परिवहन के क्षेत्र में क्रांति, तकनीक एवं शस्त्रों के विस्तार तथा पर्यावरणीय एवं सतत् सामरिक संकट ने ऐसी समस्याएँ खड़ी की हैं, जिनका समाधान राष्ट्र-राज्यों की संरचना के अंतर्गत नहीं किया जा सकता। यह अधिराष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक संस्थाओं की खोज एवं विस्तार को अनिवार्य बनाता है जो कि राष्ट्रीय संप्रभुता (National Sovereignty) के परंपरागत मूल्य को दुर्बल बना सकता है। त्वरित वैश्वीकरण (Globalization) के सांस्कृतिक प्रभाव अपने साथ उन विघटनकारी तत्त्वों को भी ला रहे हैं, जो समाज को अधोपतन की ओर प्रवृत्त करते हैं और जो पुरानी सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इकाइयों को विखंडित कर सकते हैं। अधोगमन की यह प्रवृत्ति पश्चिम के आर्थिक रूप से उन्नतिशील राष्ट्र-राज्यों में अधिक दिखाई देती है तथा इसका उद्देश्य राष्ट्र-राज्यों की एक संस्था के रूप में उनकी सत्ता के साथ-साथ उनके महत्त्व एवं औचित्य को भी कम करना प्रतीत होता है।

वर्तमान परिवेश में, किसी भी देश या नगर-राज्य के नागरिक के लिये केवल अपने ही देश के बारे में सोचना बिल्कुल भी यथार्थपरक नहीं होगा। ध्यातव्य है कि अमेरिका में 11 सितंबर, 2001 में घटी घटना ने वैश्विक ग्राम (Global Village) के विषय में हमारी पुरानी धारणा को ही स्पष्ट किया अर्थात् इस एक घटना ने यह साफ कर दिया कि यदि किसी दूरस्थ गाँव के किसी कोने में अवस्थित फूस की झोंपड़ी अथवा धूल भरे किसी शिविर में आग लगती है तो यह हमारे वैश्विक ग्राम के दूसरे छोर पर अवस्थित ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं में लगी इस्पात की चादरों को भी पिघला सकती है। अन्य शब्दों में, आज विश्व में जो मुद्दे कभी दूर के लगते थे, वे अब आपके आँगन में आ गए हैं। अत: हमारा विकल्प स्पष्ट होना चाहिये कि यदि हमें अपने देश में अपनी इच्छा के अनुरूप समाज का निर्माण करना है और इसे बनाए रखना है तो हमें वैश्विक स्तर पर भी निश्चित रूप से सक्रिय रहना होगा।

वर्तमान में भारत पर अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रमों का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। हमारा स्वास्थ्य, हमारी सुरक्षा, हमारी संवृद्धि एवं समृद्धि के साथ-साथ हमारे जीवन की गुणवत्ता भी उत्तरोत्तर इस बात से प्रभावित होती है कि देश की सीमा के पार क्या हो रहा है? यही कारण है कि हम पड़ोस में होने वाली घटनाओं को नज़रअंदाज़ करने का साहस नहीं कर सकते, बेशक ये घटनाएँ कहीं दूर घटती प्रतीत होती हों। दरअसल, आज के विश्व में आपको दूसरों के संबंध में जानकारी रखना लाभकारी ही होगा।

भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका (India and United States of America)

संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व का सबसे पुराना लोकतंत्र होने के साथ एक महाशक्ति है जो वैश्विक परिदृश्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है तथा अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं एवं नीतियों को प्रभावित करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व व्यवस्था में संतुलन बनाए रखने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस क्रम में भारत के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ संबंधों को व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाना अनिवार्य हो जाता है। शीत युद्ध के पहले तथा बाद में भारत-अमेरिकी संबंधों में प्राय: उतार-चढ़ाव देखे गए, जिसका प्रमुख कारण दोनों देशों के द्वारा अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हेतु प्रयत्न तथा वैश्विक शक्ति संतुलन स्थापित करने हेतु व्यवस्था निर्माण के रूप में देखा जा सकता है।

भारत-अमेरिकी संबंधों में सहयोग के मुद्दे *(Issues of Co-operation Between India and USA)*

- दोनों देश लोकतांत्रिक व्यवस्था से संचालित होते हैं।
- भारत तथा अमेरिका दोनों ही मुक्त अर्थव्यवस्था तथा उदारवाद को प्रोत्साहन देते हैं।

खंड C

लोक प्रशासन एवं प्रबंधन

28 लोक प्रशासन (Public Administration)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह सदैव समाज में रहता है और प्रत्येक समाज को बनाए रखने के लिये कोई न कोई राजनीतिक प्रणाली अवश्य होती है जिसे नगर-राज्य या राष्ट्र-राज्य कहा जाता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि उसके लिये समाज एवं राजनीतिक प्रणाली अनादि काल से अनिवार्य रही है। राज्य सरकार एवं प्रशासन के माध्यम से कार्य करता है। राज्य के उद्देश्य, नीतियाँ, कार्यक्रम, परियोजनाएँ आदि कितनी भी प्रभावशाली, उपयोगी और आकर्षण क्यों न हों, उनसे तब तक कोई लाभ या सकारात्मक बदलाव नहीं आ सकता जब तक उसको प्रशासन द्वारा कार्य के रूप में परिणत नहीं किया जाए। सामान्यत: प्रशासन किसी क्षेत्र में विशिष्ट शासन या विभिन्न प्रकार की मानवीय गतिविधियों का प्रबंध करने हेतु महत्त्वपूर्ण होता है। यह विशेष रूप से सरकारी क्रियाकलापों में उपयोगी तंत्र एवं प्रक्रियाओं से सह-संबंध रखता है। प्रशासन के तहत कार्य पूरा करने के लिये योजना बनाना, निर्णय लेना, लक्ष्यों एवं उद्देश्यों का निर्माण करना, संगठनों का निर्माण एवं पुनर्निर्माण करना, कर्मचारियों को निर्देश देना, जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिये विधायिका तथा निजी एवं सार्वजनिक संस्थाओं के साथ मिलकर कार्य करना इत्यादि शामिल हैं।

प्रशासन: अर्थ, विशेषताएँ एवं महत्त्व (Administration: Meaning, Features and Importance)

उदारीकरण तथा भूमंडलीकरण ने प्रशासन की संरचना एवं महत्त्व को विशेष रूप से प्रभावित किया है। उत्तम अभिशासन जैसी मान्यताओं ने प्रशासन की परंपरागत अवधारणाओं को चुनौती देते हुए सामाजिक न्याय पर आधारित इसके अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये प्रेरित किया है।

अर्थ *(Meaning)*

किसी संगठन या सरकार में उचित ढंग से या उत्कृष्ट रीति से कार्य करने की प्रक्रिया प्रशासन कहलाती है। प्रशासन में निर्देश देना, मार्ग प्रशस्त करना, आदेश देना इत्यादि क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं। प्रशासन का अर्थ अधिक व्यापक है, जैसे- वित्त प्रशासन, रेल प्रशासन, स्वास्थ्य प्रशासन इत्यादि। "चूँकि प्रशासन एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिये सहयोग एवं सकारात्मक उद्देश्य से किया जाने वाला कार्य है; अत: इसके लिये विभिन्न संगठन, अनेक व्यक्तियों का सहयोग तथा सामाजिक हित का उद्देश्य आवश्यक होना चाहिये।" इसके अलावा विभिन्न विद्वानों के अनुसार प्रशासन के अर्थ निम्नलिखित हैं-

- **मार्क्स के मतानुसार**, "प्रशासन चैतन्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिये निश्चयात्मक क्रिया है। यह उन वस्तुओं के एक संगठित प्रयत्न तथा साधनों का निश्चित प्रयोग है, जिसको हम कार्यान्वित करवाना चाहते हैं।"
- **साइमन के अनुसार**, "अपने व्यापक रूप में प्रशासन की व्याख्या उन समस्त सामूहिक क्रियाओं से की जा सकती है, जो सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सहयोगात्मक रूप में प्रस्तुत की जाती हैं।"
- **फिफनर के अनुसार**, "मनुष्य तथा भौतिक संसाधनों का संगठन एवं नियंत्रण ही प्रशासन है।"
- **लूथर गुलिक के मतानुसार**, "प्रशासन का संबंध कार्यों को संपन्न कराने से है जिससे कि निर्धारित लक्ष्य पूरा हो सके।"
- **निग्रो के अनुसार**, "प्रशासन लक्ष्य की प्राप्ति के लिये मनुष्य तथा सामग्री, दोनों का संगठन है।"
- **व्हाइट के शब्दों में**, "प्रशासन किसी विशिष्ट उद्देश्य अथवा लक्ष्य की प्राप्ति के लिये बहुत से व्यक्तियों के संबंध में निर्देश, नियंत्रण तथा समन्वयीकरण की कला है।"

विशेषताएँ *(Features)*

प्रशासन की उपर्युक्त परिभाषाओं एवं विभिन्न अर्थों में प्रशासन की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं-

- प्रशासन की यह खास विशेषता है कि इसमें संगठित होकर कार्य किया जाता है।
- प्रशासन में विशेष उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कार्य किया जाता है।
- प्रशासन में सहयोग की भावना से कार्य किया जाता है।
- प्रशासन में कार्य करने वाले अधिकारियों एवं कर्मचारियों के पास कुछ प्राधिकार (सत्ता) होते हैं।
- प्रशासन का रूप बड़े-बड़े औपचारिक संगठनों में देखने को मिलता है, जैसे- विश्वविद्यालयों, कॉलेजों, चिकित्सालयों, व्यापारिक संगठनों आदि।
- प्रशासन का उद्देश्य, प्रशासन में कार्य कर रहे व्यक्तियों के उद्देश्य अलग-अलग होते हैं, जैसे- सरकार द्वारा सड़क बनाने एवं उसमें कार्य कर रहे लोगों के उद्देश्य भिन्न होते हैं।

महत्त्व *(Importance)*

प्रशासन को आधुनिक राज्य का एक अनिवार्य तत्त्व माना जाता है। **निग्रो** के शब्दों में, "प्रशासनिक प्रक्रिया में लोक प्रशासन दोहरी भूमिका निभाता है।" जैसे-

29 निजी प्रशासन (Private Administration)

किसी व्यक्ति या गैर-सरकारी संस्थान द्वारा लाभ कमाने के उद्देश्य से किया जाने वाला प्रशासन निजी प्रशासन कहलाता है। इसमें उत्पादन, विनिमय, नियंत्रण एवं प्रबंधन पर निजी नियंत्रण होता है। निजी प्रशासन पर सरकार का हस्तक्षेप नहीं होता है। निजी प्रशासन में लोकहित की भावना निहित नहीं होती है। इनमें स्कूल, कॉलेज, अस्पताल, कोचिंग सेंटर, राजनीतिक दल, क्लब इत्यादि आते हैं।

लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में समानताएँ (Similarities in Public Administration and Private Administration)

लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के बीच काफी समानताएँ हैं। अनेक ऐसे विचारक हैं जो लोक प्रशासन में निजी प्रशासन की तकनीक व इसके तौर-तरीकों के अधिकाधिक इस्तेमाल करने के हिमायती हैं। हेनरी फेयोल, मेरी पार्कर फॉलेट और उर्विक के अनुसार प्रशासन के मूल तत्त्व प्रायः एक से ही रहते हैं चाहे वे निजी क्षेत्र में हों या सार्वजनिक क्षेत्र में।

लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन की समानताओं के मुख्य बिंदु इस प्रकार हैं-

- लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन, दोनों के लिये संगठन की आवश्यकता होती है। संगठन लोक एवं निजी प्रशासन का शरीर होता है, जिसमें समान प्रशासनिक क्रियाएँ की जाती हैं।
- इन दोनों प्रशासनों की कार्य-प्रणालियों में समानताएँ पाई जाती हैं। इनका मुख्य कार्य 'पोस्डकोर्ब' (POSDCoRB) है। इसके साथ ही आँकड़े उपलब्ध कराना, हिसाब-किताब रखना, फाइलें बनाना इत्यादि अन्य कार्य भी शामिल हैं।
- लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन, दोनों में अधिकारियों के उत्तरदायित्व समान होते हैं।
- लोक एवं निजी प्रशासन की सफलता के लिये अधिकारियों एवं कर्मचारियों में योग्यता एवं दक्षता होना आवश्यक होता है अर्थात् कुशलता, परिश्रम, ईमानदारी, कर्त्तव्यनिष्ठा, नेतृत्व, बौद्धिक स्तर आदि गुण दोनों की प्रशासनों के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के लिए समान रूप से आवश्यक होते हैं।
- चाहे प्रशासन लोक हो या निजी दोनों समान रूप से विकास की ओर अग्रसर होते हैं।
- 21वीं सदी में लोक प्रशासन के क्षेत्र में कर्मचारियों की नियुक्ति, पदोन्नति, वेतनक्रम, सेवानिवृत्ति, पदच्युत करने के नियम तथा पेंशन आदि की वही व्यवस्था अपनाई जाती है जो निजी क्षेत्रों में भी अपनाई जाती है।
- इन दोनों प्रशासनों में जनता से संपर्क आवश्यक होता है। यदि जन-संपर्क नहीं होगा तो कोई भी प्रशासन असफल हो जाएगा। लोक प्रशासन के लिये तो यह अति आवश्यक है, क्योंकि लोक प्रशासन का उद्देश्य जन कल्याण करना होता है।
- दोनों प्रशासनों में अनुसंधान के कार्य भी होते हैं, जिनके द्वारा नए उपकरणों, सिद्धांतों, प्रक्रियाओं का प्रतिपादन किया जाता है।

लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के मध्य असमानताएँ (Differences between Public Administration and Private Administration)

लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन के बीच अनेक समानताएँ होते हुए भी कई बातों में भिन्नताएँ पाई जाती हैं। इनके मध्य असमानता के मुख्य बिंदु निम्नलिखित हैं-

- **लाभ के आधार पर:** निजी प्रशासन का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना होता है जबकि लोक प्रशासन का मुख्य उद्देश्य जनकल्याण होता है।
- **सेवा भावना के आधार पर:** निजी प्रशासन में सेवा भाव नहीं होता है, जबकि लोक प्रशासन में सेवा भाव के आधार पर कृत्यों का निर्वहन किया जाता है।
- **उत्तरदायित्व के आधार पर:** निजी प्रशासन में अधिकारियों का जनता के प्रति उत्तरदायित्व नहीं होता है, जबकि लोक प्रशासन में अधिकारी जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं।
- **व्यवहार की एकरूपता के आधार पर:** किसी भी निजी प्रशासन में पक्षपात या विशिष्ट व्यवहार किया जा सकता है, जबकि लोक प्रशासन में व्यवहार में एकरूपता अर्थात् समानता पाई जाती है। इसमें नागरिकों के साथ भेदभाव नहीं किया जाता है।
- **एकाधिकार के आधार पर:** लोक प्रशासन में शासन का एकाधिकार होता है, जबकि निजी प्रशासन में एकाधिकार नहीं होता है, उदाहरणस्वरूप एक ही वस्तुओं का उत्पादन अनेक व्यापारियों द्वारा किया जाता है।
- **वित्तीय नियंत्रण के आधार पर:** लोक प्रशासन में वित्त पर प्रभावी नियंत्रण होता है, जिसमें विधायिका, न्यायपालिका, राजनीतिक कार्यपालिका, जनता तथा गैर-सरकारी संगठन व मीडिया आदि आते हैं, जबकि निजी प्रशासन में वित्त पर नियंत्रण नहीं होता है।
- **लालफीताशाही के आधार पर:** निजी प्रशासन का संगठन व्यापारिक आधार पर होता है, जबकि लोक प्रशासन का आधार नौकरशाही प्रकृति की होती है और नौकरशाही में लालफीताशाही, भ्रष्टाचार, अदक्षता इत्यादि समस्याएँ विद्यमान हैं।
- **क्षेत्रों के आधार पर:** निजी प्रशासन का क्षेत्र सीमित होता है, जबकि लोक प्रशासन का क्षेत्र अधिक व्यापक होता है।

30 नवीन लोक प्रशासन (New Public Administration)

नवीन लोक प्रशासन (New Public Administration)

सामान्यत: यह माना जाता है कि नवीन लोक प्रशासन का शुभारंभ लोक प्रशासन के नवयुवक विद्वानों द्वारा किया गया, जिसमें 1980 में प्रकाशित एच. जार्ज फ्रेडरिकसन की पुस्तक 'न्यू पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' प्रमुख रही।

जहाँ एक ओर दक्षता, मूल्यशून्यता, तटस्थता एवं कार्यकुशलता प्राचीन लोक प्रशासन के सिद्धांत थे, वहीं नैतिकता, जवाबदेहिता, नमनीय तटस्थता, सामाजिक प्रतिबद्धता तथा प्रतिबद्ध शासन प्रणाली पर नवीन लोक प्रशासन ज़ोर देता है। इसके अंतर्गत विद्वानों द्वारा मूल्यों की आधारशिला पर विशेष बल दिया गया।

इस प्रकार नवीन लोक प्रशासन जातिगत की अपेक्षा जनोन्मुखी अधिक, विवरणात्मक कम और निर्देशात्मक अधिक, संस्था उन्मुखी कम और ग्राहकोन्मुखी अधिक तथा तटस्थ कम और मूल्यपरक अधिक है।

वाल्डो के अनुसार, "नवीन लोक प्रशासन मानकात्मक सिद्धांत, दर्शन, सामाजिक प्रतिबद्धता और सक्रियतावाद की दिशा में एक प्रकार का क्रांतिघोष है।"

नवीन लोक प्रशासन की विशेषताएँ *(Features of New Public Administration)*

नवीन लोक प्रशासन की विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

- नवीन लोक प्रशासन द्वारा राजनीति-प्रशासन द्विविभाजन को अस्वीकार किया गया है।
- नवीन लोक प्रशासन में राजनीति-प्रशासन के एकीकरण पर बल दिया गया है।
- नवीन लोक प्रशासन सकारात्मक एवं आदर्शात्मक होता है और यह प्रत्यक्ष रूप से जनता के प्रति उत्तरदायी होता है।
- नवीन लोक प्रशासन की यह मान्यता है कि प्रशासन में नीति निर्माण, नीति क्रियान्वयन और नीति मूल्यांकन सदैव नैतिकता के आधार पर होता है अर्थात् यह नैतिकता पर बल देता है।
- नवीन लोक प्रशासन परिवर्तन में विश्वास रखता है और यह सामाजिक समस्याओं के प्रति संवेदनशील होता है।
- नवीन लोक प्रशासन में विकेंद्रीकरण को बढ़ावा दिया जाता है।
- नवीन लोक प्रशासन में जवाबदेहिता, सामाजिक प्रतिबद्धता, नमनीय तटस्थता एवं प्रतिबद्ध प्रशासन पर बल दिया जाता है।
- नवीन लोक प्रशासन में पदसोपान की अवधारणा को अस्वीकार किया गया है।

नवीन लोक प्रशासन के उद्‌भव के कारण *(Causes of Genesis of New Public Administration)*

- 1960 के दशक के अंत में जब अमेरिकी समाज विघटन एवं टूट-फूट की स्थिति से गुज़रता हुआ दिखाई दे रहा था तब उस समय का परंपरागत लोक प्रशासन इतना सक्षम नहीं था कि वह अमेरिकी समाज के इस संकट को समझ सके।
- जब सामाजिक-आर्थिक संकटों के कारण नई मांगें एवं चुनौतियाँ उत्पन्न हुईं तब भी यह उनका सामना करने में अपने आपको असमर्थ पा रहा था।
- आणविक शस्त्रों के कारण उत्पन्न आतंक, गृहयुद्ध, सामाजिक विभेद एवं वियतनाम में अघोषित युद्ध आदि कारण विश्व की नैतिक अंतरात्मा पर प्रहार कर रहे थे।
- इस प्रकार के वातावरण ने अमेरिका के युवा बुद्धिजीवियों को और भी विचलित कर दिया था। क्योंकि जहाँ न तो शासन द्वारा संस्थापित केंद्र कुछ कर पा रहे थे और न ही मान्यताप्राप्त शिक्षा के गढ़ों में ही कोई हलचल थी।
- सामाजिक उथल-पुथल के इस दौर में समाज विज्ञान के अन्य विषयों की तरह लोक प्रशासन जैसा विषय भी पूरी तरह से हिल उठा था।
- समाज के सामने खड़ी इन चुनौतियों का हल नए विचारों एवं नए नारों में खोजना आवश्यक हो गया था। इसी के परिणामस्वरूप एक नया नारा, नया आंदोलन 'नवीन लोक प्रशासन' के नाम से चला।

नवीन लोक प्रशासन का विकास *(Evolution of New Public Administration)*

- वर्ष 1968 के पश्चात् लोक प्रशासन के अध्ययन-क्षेत्र में नवीन विचारों का प्रादुर्भाव हुआ और इन विचारों को 'नवीन लोक प्रशासन' की संज्ञा प्रदान की गई।
- वर्ष 1967 में सार्वजनिक सेवाओं संबंधी उच्च शिक्षा पर 'हनी प्रतिवेदन' के प्रकाशन के साथ ही नवीन लोक प्रशासन को मान्यता प्राप्त हुई।
- नवीन लोक प्रशासन के विकास में हनी प्रतिवेदन, 1967, सिद्धांत एवं व्यवहार सम्मेलन, 1967 और मिन्नोब्रुक सम्मेलन, 1968 का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

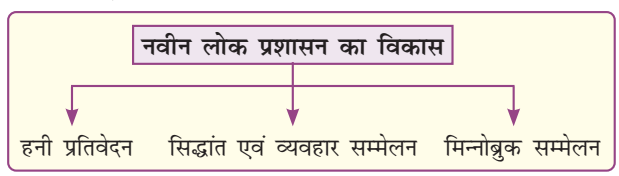

31 लोक प्रशासन के सिद्धांत (Theories of Public Administration)

लोक प्रशासन के समग्र अध्ययन के लिये लोक प्रशासन के सिद्धांत को समझना आवश्यक हो जाता है। सिद्धांतों की व्याख्या विचारधाराओं की अभिव्यक्ति से होती है। अनेक सिद्धांतों, उपागमों और विचारधाराओं का संबंध संगठन की संरचना एवं उसके विभिन्न कार्यों से होता है जिसको अनेक प्रकार से अधिकारियों एवं कर्मचारियों के द्वारा क्रियान्वित किया जाता है। इन सिद्धांतों में विचारकों एवं विद्वानों के अनुभवों और प्रशासनिक वातावरण के निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण विश्लेषणात्मक जानकारी प्राप्त किया जाता है। लोक प्रशासन के सिद्धांत में शास्त्रीय सिद्धांत (फियोल, गुलिक, उर्विक), वैज्ञानिक प्रबंधन सिद्धांत (टेलर), नौकरशाही सिद्धांत (वेबर), मानव संबंध सिद्धांत (एल्टन मेयो) और व्यवस्था दृष्टिकोण (बर्नार्ड) का अध्ययन किया जायेगा।

शास्त्रीय सिद्धांत (फेयोल, गुलिक, उर्विक) [Classical Theory (Fayol Gullick Urwik)]

संगठन के सर्वाधिक प्राचीन विचारधाराओं को ही शास्त्रीय सिद्धांत कहते हैं। इसे यांत्रिक दृष्टिकोण भी कहा जाता है। यह परंपरागत विचारधाराओं पर आधारित होता है। शास्त्रीय सिद्धांत के हेनरी फेयोल , लूथर गुलिक, लिंडल उर्विक प्रमुख समर्थक हैं। यह सिद्धांत अवैयक्तिकता, कार्य-विभाजन, पदसोपान एवं दक्षता पर अधिक बल देता है।

हेनरी फेयोल का योगदान *(Contribution of Henry Fayol)*

फ्रांसीसी इंजीनियर हेनरी फेयोल को शास्त्रीय सिद्धांत का जनक माना जाता है। इनकी महत्त्वपूर्ण रचना 'जनरल एंड इंडस्ट्रियल मैनेजमेंट' वर्ष 1916 में प्रकाशित हुई। इन्होंने कहा है कि अब हमारे सामने प्रशासन के कई नहीं, बल्कि मात्र एक विज्ञान है जो समान रूप से शासकीय एवं गैर-शासकीय सभी मामलों में लागू किया जा सकता है। हेनरी फेयोल ने शास्त्रीय सिद्धांत में लोक प्रशासन के 14 सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है, जो इस प्रकार है-

(i) **कार्य-विभाजन:** कार्य विभाजन सिद्धांत के अनुसार उद्देश्य प्राप्ति हेतु कर्मचारियों में उनकी योग्यता और कार्यकुशलतानुसार कार्य का विभाजन सुनिश्चित किया जाना चाहिये। इससे उत्पादकता बढ़ती है और तकनीकी एवं प्रशासकीय कार्य निष्पादन का स्तर ऊँचा होता है।

(ii) **अनुशासन:** फेयोल के मतानुसार अनुशासन से अभिप्राय संगठन के नियमों के प्रति विश्वास, आज्ञाकारिता एवं श्रद्धा से है। कर्मनिष्ठा और आदेश का पालन करना ही अनुशासन है। अनुशासन प्रशासकों के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। इसके अभाव में कोई भी संगठन समृद्ध नहीं हो सकता है। अनुशासन बनाए रखने के लिये बेहतर पर्यवेक्षण, अनुशासन के नियमों की स्पष्टता, पुरस्कार एवं दंड की व्यवस्था का होना आवश्यक है।

(iii) **आदेश की एकता:** संगठन में एक व्यक्ति, एक अधिकारी के सिद्धांत का पालन होना चाहिये। इससे यह लाभ होता है कि कर्मचारी एक ही अधिकारी के प्रति उत्तरदायी होता है और साथ ही निर्देशों में स्पष्टता रहती है।

(iv) **अधिकार एवं उत्तरदायित्व:** यदि किसी व्यक्ति को कोई कार्य करने का उत्तरदायित्व सौंपा जाए तो कार्य के सुव्यवस्थित निष्पादन हेतु आवश्यक अधिकार भी दिये जाने चाहिये। बिना अधिकार के कोई भी व्यक्ति कुशलतापूर्वक अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन सुनिश्चित नहीं कर सकता है।

(v) **निर्देशन की एकता:** इस सिद्धांत के अनुसार यदि संगठन का उद्देश्य एक है तो प्रबंधक को सभी क्रियाओं के लिये एक ही निर्देशों का पालन करना चाहिये। यह सिद्धांत कार्य में एकरूपता लाने, समन्वय एवं प्रयासों पर उचित ध्यान देने के लिये आवश्यक है।

(vi) **पारिश्रमिक:** हेनरी फेयोल के अनुसार, कर्मचारियों की पारिश्रमिक दर और भुगतान की विधि उचित एवं संतोषजनक होनी चाहिये। उन्होंने संगठन में कर्मचारियों को प्रोत्साहन देने के लिये गैर-वित्तीय प्रेरणाएँ अपनाने पर भी बल दिया है।

(vii) **सामुदायिक हितों के लिये व्यक्तिगत हितों की अधीनता:** सदस्यों के व्यक्तिगत हितों एवं संकीर्ण विचारों को संगठन के सामान्य (सामूहिक) हितों पर सदैव प्राथमिकता दी जानी चाहिये। हालाँकि कुशल प्रशासकों को सामान्य एवं व्यक्तिगत हितों में समन्वय रखना चाहिये, परंतु यदि दोनों में संघर्ष हो जाए तो व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा सामान्य हितों को प्राथमिकता देनी चाहिये।

(viii) **अधिकारी संपर्क शृंखला:** 'अधिकारी संपर्क शृंखला' से आशय सर्वोच्च अधिकारी से लेकर निम्नतम अधिकारी के बीच संपर्क की व्यवस्था के क्रम से है। अर्थात् वरिष्ठ एवं अधीनस्थ के मध्य संबंधों की स्पष्ट शृंखला निर्धारित होनी चाहिये और शृंखला का उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिये।

(ix) **केंद्रीकरण:** संगठन के प्रशासन में केंद्रीकरण को अपनाया जाए। या विकेंद्रीकरण को, इसका निर्धारण सस्था के हितों, कर्मचारियों की मनोभावनाओं और कार्य-प्रकृति आदि सभी बातों का ध्यान रखकर किया जाना चाहिये।

(x) **समानता:** कार्य करने में लगे सभी कर्मचारियों के साथ उचित व्यवहार करने को समानता कहा जाता है। समानता से तात्पर्य कर्मचारियों के प्रति न्यायोचित एवं उदारता का भाव रखने से है अर्थात् यह न्याय एवं दया का मिश्रण है।

(xi) **क्रम व्यवस्था:** प्रत्येक वस्तु, मशीन कर्मचारियों के लिये एक नियत स्थान व्यवस्थित क्रम में होना चाहिये।

32 प्रशासनिक अवधारणाएँ (Administrative Concepts)

आधुनिक राज्य के स्वरूप एवं दायित्वों में आए परिवर्तनों ने प्रशासनिक अवधारणाओं को अनिवार्य सिद्ध कर दिया है। वर्तमान समय में व्यक्तियों की प्रत्येक गतिविधि प्रशासनिक एजेंसियों द्वारा निर्देशित एवं नियंत्रित होती है। समाज में बढ़ती हुई जटिलताओं, राज्य के बढ़ते हुए दायित्वों और प्रशासनिक पद्धतियों में आए बदलावों के मध्य प्रशासनिक अवधारणाओं का महत्त्व भी अत्यधिक बढ़ गया है। सामयिक परिस्थितियों में सुदृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था के बिना प्रगति संभव नहीं है इसलिये प्रशासनिक व्यवस्था में शक्ति, सत्ता, वैधता एवं उत्तरदायित्व जैसी प्रशासनिक अवधारणाओं का महत्त्व अत्यधिक बढ़ जाता है।

शक्ति की अवधारणा (Concept of Power)

शक्ति शब्द जिसे अंग्रेज़ी में पावर (Power) कहते हैं, लैटिन भाषा के 'Potere' शब्द से निकला है, जिसका अर्थ है- योग्य के लिये। शक्ति उस विशेष स्थिति की द्योतक है जिसमें कोई व्यक्ति सामाजिक विरोध की स्थिति में भी अपनी इच्छा एवं आदेशों का अनुपालन करवाने में सफल हो जाता है। शक्ति की अवधारणा सकारात्मक और नकारात्मक दोनों हो सकती है। यदि शक्ति में वैधता जुड़ जाए तो यह सकारात्मक रूप में उभरती है अन्यथा शक्ति दिशाहीन हो जाती है जो विनाशकारी भी हो सकती है। शक्ति व्यक्ति की योग्यता पर निर्भर करती है। यह एक नकारात्मक संकल्पना भी मानी जाती है, क्योंकि इसमें बल प्रयोग का तत्त्व संभावित रहता है। शक्ति का दीर्घकालीन अस्तित्व सत्ता पर निर्भर करता है।

ऑगेंस्की के अनुसार, "शक्ति अन्य व्यक्तियों को अपने लक्ष्यों के अनुरूप प्रभावित करने की क्षमता है। शक्ति एक सापेक्ष शब्द है, यथा- राजनीतिक शक्ति, आर्थिक शक्ति, सामाजिक शक्ति आदि।"

वेबर के अनुसार, "शक्ति आरोपण की अभिव्यक्ति है, यह आरोपण बाध्यकारी रूप में होता है।"

बर्नार्ड शॉ के अनुसार, "शक्ति कभी भ्रष्ट नहीं करती बल्कि जब यह अज्ञानी में निहित होती है, तभी भ्रष्ट होने की संभावना बढ़ जाती है।"

शूमैन के अनुसार, "शक्ति लोगों को नियंत्रित एवं उन्हें प्रभावित करने की योग्यता है।"

गोल्डमेयर एवं शिल्स के अनुसार, "एक व्यक्ति के पास शक्ति उस सीमा तक होती है, जिस सीमा तक वह अपनी इच्छाओं के अनुसार दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करता है।"

शक्ति का रूप सदैव सामाजिक होता है। शक्ति सामाजिक संबंधों की अभिव्यक्ति है, परंतु बल गैर-सामाजिक तत्त्व कहलाता है। शक्ति बल का कानूनी रूप होता है। शक्ति कानूनी दायरे वाला बल है। नकारात्मक शक्ति से आशय व्यक्ति की उस क्षमता से है जो अन्यों से वह काम करवा लेता है जो अन्यथा वे लोग नहीं करते। सकारात्मक शक्ति सशक्तीकरण के रूप में उभरती है। शक्ति शासकों एवं शासितों के मध्य संबंधों को सुनिश्चित करती है। शक्ति के द्वारा शासक आदेश देते हैं एवं शासित व्यक्ति उसका पालन करते हैं। शक्ति दूसरों को प्रभावित करती है तथा उनके व्यवहार को नियमित भी करती है। शक्ति वह साधन है जिसके द्वारा निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है।

शक्ति की विशेषताएँ *(Features of power)*

शक्ति की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

- शक्ति कार्य करवाने की भावना पर आधारित होती है।
- शक्ति योग्यता को प्रदर्शित करती है।
- इसमें बल प्रयोग से संबद्ध तत्त्व की मौजूदगी की संभावना रहती है।
- शक्ति अस्थायी एवं वैयक्तिक होती है।
- शक्ति बाध्यकारी स्थिति होती है।
- शक्ति के महत्त्वपूर्ण घटक हैं- प्रभाव, बाध्यता और अपने हित को किसी भी प्रकार साधना।
- शक्ति की अवधारणा कानूनी, अवैयक्तिक एवं औपचारिक होती है।
- शक्ति नियंत्रण को जन्म देती है, जैसे- दूसरों पर नियंत्रण, तथ्यों या वस्तुओं पर नियंत्रण।
- शक्ति की अवधारणा की अभिव्यक्ति कानूनों के रूप में होती है।
- शक्ति उद्देश्यहीन नहीं होती बल्कि शक्ति का अस्तित्व, प्रयोग एवं व्यावहारिक रूप किन्हीं निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु ही किया जाता है।
- शक्ति अनिवार्य रूप से समाज से जुड़ी होती है।

शक्ति एवं प्राधिकार में संबंध

प्राधिकार/सत्ता शक्ति का वह प्रयोग है, जिसे वैध माना जाता है जबकि शक्ति दूसरों को प्रभावित करने की क्षमता को कहा जाता है। वैधता शक्ति का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों के पास अलग-अलग स्रोतों (कानून, परंपरा, प्रत्यायोजन, धर्म आदि) से आ सकती है। जो वैध शक्ति का प्रयोग कर रहा है, उसे जन स्वीकृति भी प्राप्त रहेगी।

शक्ति के प्रकार *(Types of power)*

शक्ति के प्रमुख प्रकार निम्नलिखित हैं-

वैधपूर्ण शक्ति

वैधपूर्ण शक्ति किसी व्यक्ति की वह शक्ति है, जो उसे कुछ दायित्वों को पूर्ण करने या निभाने के बदले में प्राप्त होती है। इस प्रकार की शक्ति सत्ता के रूप में एक व्यक्ति को उसके स्तर के परिणामस्वरूप प्राप्त होती है।

33 संगठन एवं उनके सिद्धांत (Organisations and their Principles)

व्यक्तियों का एक ऐसा समूह संगठन कहलाता है जिसके अंतर्गत बिखरी हुई शक्तियों को एकीकरण करने का प्रयास किया जाता है। संगठन आज मनुष्य की हर गतिविधियों के साथ जुड़ा हुआ है। इसके व्यवस्थित कार्यकरण के लिये कुछ निश्चित नियमों, प्रक्रियाओं एवं सर्वस्वीकृत आधारशिलाओं की आवश्यकता होती है जिसके अभाव में संगठन दिशाहीन एवं अवरुद्ध हो जाता है। संगठन की अवधारणा के विकास के साथ ही इसके अनेक सर्वमान्य सिद्धांतों (जैसे- पदसोपान, प्रत्यायोजन, आदेश की एकता, नियंत्रण के क्षेत्र, केंद्रीकरण एवं विकेंद्रीकरण, समन्वय, पर्यवेक्षण) को भी खोज निकाला गया तथा ये सिद्धांत आचरण के ऐसे कार्य नियम होते हैं जो विस्तृत अनुभव के कारण सर्वस्वीकृत होते हैं।

संगठन: अर्थ एवं विशेषताएँ (Organisation: Meaning and Features)

सामान्य बोलचाल की भाषा में संगठन का अर्थ होता है- कार्य को योजनाबद्ध रूप में संपन्न करना। अर्थात् किसी कार्य को योजनाबद्ध रूप से संपादित करना ही संगठन कहलाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि श्रम, आवश्यकताएँ, प्रबंध के मध्य प्रभावपूर्ण सहकारिता स्थापित करने की कला को ही संगठन कहते हैं। **ऑक्सफोर्ड शब्दकोश** के अनुसार, संगठन शब्द से तात्पर्य है- किसी वस्तु का व्यवस्थित ढाँचा बनाना, किसी वस्तु का आकार निश्चित करना एवं उसको कार्य करने की स्थिति में लाना। संगठन में तीन तत्त्व निहित होते हैं- इसमें कार्य निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिये किया जाता है, इसमें सहयोग की भावना होती है तथा इसमें अनेक व्यक्तियों द्वारा कार्य किया जाता है। अनेक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न अर्थों में संगठन को परिभाषित किया है जो निम्नलिखित हैं-

एल.डी. व्हाइट के अनुसार, "संगठन का अर्थ कर्मचारियों की उस अवस्था से है, जो निश्चित किये हुए विषयों की प्राप्ति के लिये कार्यों एवं उत्तरदायित्वों को विभाजित करके स्थापित की जाती है।"

ग्लैडन के अनुसार, "संगठन से तात्पर्य है किसी उद्यम में लगे हुए व्यक्तियों के परस्पर संबंधों की ऐसी प्रतिकृति बनाना जो उद्यम के कार्यों को पूरा कर सके।"

लूथर गुलिक के अनुसार, "संगठन सत्ता का औपचारिक ढाँचा है जिसके द्वारा किसी निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति के लिये कार्यों को विभाजित तथा निर्धारित किया जाता है और उनका समन्वय किया जाता है।"

उर्विक के अनुसार, "संगठन का अर्थ है उन क्रियाओं का निर्धारण करना जो किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये आवश्यक हों और उनको ऐसे वर्गों में क्रमबद्ध करना जो कि विभिन्न व्यक्तियों को सौंपे जा सकें।"

जे.डी. मूने के अनुसार, "एक समान ध्येय की प्राप्ति के लिये बनने वाले प्रत्येक मानवीय समुदाय का ढाँचा संगठन है।"

फिफनर के अनुसार, "संगठन का अर्थ व्यक्तियों एवं व्यक्तियों के बीच, वर्गों एवं वर्गों के बीच संबंधों से है, जो इस प्रकार आयोजित किये जाएँ कि व्यवस्थित श्रम विभाजन किया जा सके।"

एम. मार्क्स के अनुसार, "संगठन उस ढाँचे का नाम है, जो शासन के प्रमुख कार्यवाह तथा उसके सहायकों को सौंपे गए कार्यों को पूरा करने के लिये बनाया जाता है।"

संगठन की विशेषताएँ *(Features of Organisation)*

किसी भी संगठन में निम्नलिखित विशेषताएँ होनी चाहिये-

- संगठन विभिन्न व्यक्तियों का समूह होता है, यह समूह छोटा एवं बड़ा हो सकता है।
- यह समूह के उत्तरदायित्वों तथा कर्त्तव्यों के स्वरूप को स्थापित करता है।
- यह कार्यकारी नेतृत्व के निर्देशन में संगठित होकर कार्य करता है।
- इसके अभाव में प्रबंध अपना कार्य व्यवस्थित ढंग से नहीं कर सकता है क्योंकि यह संगठन प्रबंध का एक यंत्र होता है।
- यह एक क्रियात्मक अवधारणा है जहाँ अनेक लक्ष्य निर्धारित करके उन्हें क्रियान्वित किया जाता है।
- इसमें अधिकार एवं दायित्वों के विभाजन तथा श्रम-विभाजन आदि का नियोजन किया जाता है।
- व्यक्तियों के मध्य औपचारिक संबंधों का निर्माण संगठन के माध्यम से होता है।
- संगठन औपचारिक संबंधों के निर्धारित लक्ष्यों को पूरा करने में सहायक होता है।
- संगठन में आड़े-तिरछे, समस्तरीय तथा ऊपर-नीचे संबंधों का निर्माण होता है। इसमें आदेश एवं अनुपालन के आधार भी तैयार होते हैं।
- संगठन में निरंतर संदेशों का आदान-प्रदान होता रहता है।
- इसमें संरचनात्मक संबंधों को स्थापित किया जाता है।

संगठन के प्रकार (Types of Organisation)

संगठन से संबंधित विद्वान संगठन के दो प्रकार मानते हैं- औपचारिक संगठन एवं अनौपचारिक संगठन।

औपचारिक संगठन *(Formal Organisation)*

औपचारिक संगठन ऐसे संगठन होते हैं जिसमें अधिकार एवं उत्तरदायित्व तथा प्रत्येक स्तर पर स्थिति स्पष्ट रूप से परिभाषित होती है। इन संगठनों में अधिकार उच्च स्तर से निम्न स्तर की ओर प्रत्यायोजित

34 प्रबंधन एवं नवीन लोक प्रबंधन (Management and New Public Management)

प्रबंध की अवधारणा बहुत पुरानी है, क्योंकि प्राचीन काल में भी प्रबंध के संबंध में विद्वान एवं विचारक अपना मत व्यक्त करते रहे। उनके अनुसार प्रशासनिक प्रबंध का सिद्धांत मानव संगठन के कुशल संचालन एवं राज्य के प्रशासनिक कार्यों के लिये उचित होता है। अंततोगत्वा मानव सभ्यता में निरंतरता एवं परिवर्तन के साथ-साथ प्रबंध की अवधारणा बदलती रही। आधुनिक प्रबंध के रूप में विकसित अवधारणा आज के विकासशील युग में प्रचलित हो रही है।

प्रबंधन : अर्थ, विशेषताएँ, प्रकृति एवं महत्त्व (Management : Meaning, Features, Nature and Importance)

प्रबंधन वह प्रक्रिया होती है जिसमें प्रशासन की समस्त क्रियाओं का समायोजन, नियोजन एवं विश्लेषण किया जाता है। किसी संगठन की सफलता और असफलता प्रबंध पर निर्भर करती है। एक प्रबंधक संगठन में नेतृत्वकर्त्ता की भूमिका निभाता है। वह संगठन में नीति निर्माण, निर्णय निर्माण, समन्वय इत्यादि क्रियाएँ करता है।

अर्थ *(Meaning)*

- किसी भी संगठन में उत्पादन हेतु विभिन्न क्रियाओं को सफलतापूर्वक संपादित कराने की प्रक्रिया को प्रबंधन कहते हैं।
- इसके माध्यम से संगठन को सुव्यवस्थित, संगठित और क्रमबद्ध किया जाता है। इसके साथ ही आवश्यक गतिविधियों का नियोजन, समन्वय और नियंत्रण करके लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है।
- इसके अतिरिक्त प्रबंधन से तात्पर्य मानव निपुणता एवं साधनों के उपयोग के लिये सामूहिक प्रयासों द्वारा अपेक्षित लक्ष्यों की कल्पना करने तथा उनको प्राप्त करने से संबंधित है।
- थियो हेमन ने प्रबंधन के तीन अर्थ बताए हैं- पहला, प्रबंधन से आशय प्रबंधन आधिकारियों के उस कार्य से होता है जिसके तहत संबंधित संगठन में कार्य करने वाले लोगों के कार्यों पर नियंत्रण स्थापित किया जाता है।
- दूसरा, प्रबंधन से तात्पर्य ऐसे विज्ञान से है जिसमें व्यवसाय संबंधी नियोजन, संगठन, संचालन, समन्वय, प्रेरणा और नियंत्रण के सिद्धांतों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाता है।
- तीसरा, प्रबंधन से आशय ऐसी प्रक्रिया से है जिसके अंतर्गत अन्य लोगों के साथ मिलकर कार्य करने पर बल दिया जाता है।
- इसके अलावा विभिन्न विद्वानों का मत निम्नवत् है-
  - पीटर एफ. ड्रकर के शब्दों में, "प्रबंधन प्रत्येक व्यवसाय का गत्यात्मक और जीवन प्रदायिनी अवयव है। इसके नेतृत्व के अभाव में उत्पत्ति के साधन केवल साधन मात्र रह जाते हैं, कभी भी उत्पादक नहीं बन पाते हैं।"
  - **हेनरी फेयोल** के अनुसार, "प्रबंधन करने से आशय पूर्वानुमान लगाना एवं योजना बनाना, संगठित करना, निर्देशन देना, समन्वय करना एवं नियंत्रण करना है।"
  - **जोजेफ एल. मेसी** के अनुसार, "प्रबंधन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक सहकारी समूह कार्य को एक सामान्य उद्देश्य की ओर निदेशित करता है।"
  - **मैक्फारलैंड** के अनुसार, "प्रबंधन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्रबंधक व्यवस्थित, समन्वित एवं सहकारी प्रयासों से सोद्देश्य संगठनों का सृजन करते हैं।

विशेषताएँ *(Features)*

प्रबंधन की परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित विशेषताएँ दिखाई देती हैं-

- प्रबंधन एक सामाजिक प्रक्रिया है, जो आम आदमी से संबंधित होती है।
- प्रबंधन एक ऐसी क्रिया है, जो मनुष्य द्वारा संपन्न की जाती है। यह एक सतत् चलने वाली प्रक्रिया है।
- प्रबंधन में कला और विज्ञान दोनों विशेषताएँ पाई जाती हैं।
- प्रबंधन के अंतर्गत एक व्यक्ति विशेष को महत्त्व न देकर समूह को महत्त्व दिया जाता है।
- इसकी आवश्यकता सभी स्तरों पर होती हैं। जैसे- उच्चस्तरीय, मध्यस्तरीय और निम्नस्तरीय।
- प्रबंधन एक पेशा है, क्योंकि इसका भी स्वयं का सिद्धांत, नीतियाँ एवं नियम होते हैं।
- इस ज्ञान का प्रयोग प्रबंधक संगठन के उद्देश्यों के प्राप्ति के लिये करता है।
- प्रबंधकीय सिद्धांत एवं कार्य सभी प्रकार के संगठनों पर समान रूप से लागू होते हैं।
- प्रबंधन पारिस्थितिक होता है। यह आंतरिक तथा बाह्य दोनों ही वातावरण से प्रभावित होता है।
- प्रबंधन के माध्यम से संगठन के प्रयासों के परिणाम, व्यवस्था, अनुशासन एवं उत्पादन को संपन्न किया जाता है।
- प्रबंधन प्रक्रिया को संपन्न करने के लिये विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है।
- तकनीकी दृष्टि से निपुण एवं अनुभवी व्यक्ति ही किसी संगठन की व्यवस्था का संचालन कर सकता है।

35 विकास प्रशासन एवं तुलनात्मक लोक प्रशासन
(Development Administration and Comparative Public Administration)

विकास प्रशासन की अवधारणा आधुनिक लोक प्रशासन की परिचायक है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् नवस्वतंत्र राज्यों (खासकर एशिया, अफ्रीका एवं लैटिन अमेरिका) के उदय होने से इसके क्षेत्र एवं दायित्व का विस्तार हुआ। इसके दायित्व के अंतर्गत राष्ट्रनिर्माण, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं जन सहायता के कार्यों को प्रमुखता दी गई है, जिससे प्रशासन एवं नागरिकों के मध्य की दूरी कम होने लगी है। साथ ही नवस्वतंत्र राष्ट्रों के प्रशासनिक ढाँचे में सुधारों के लिये विकसित देशों के प्रशासन से तुलनात्मक अध्ययन किया जाने लगा और इसका सर्वाधिक श्रेय रिग्स को जाता है।

विकास प्रशासन (Development Administration)

'विकास प्रशासन' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग यू.एल. गोस्वामी ने किया। उन्होंने इस शब्द का प्रयोग अपने एक लेख 'दि स्ट्रक्चर ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इंडिया' में किया था। इस शब्द की विस्तृत व्याख्या करने का श्रेय अमेरिकी विद्वानों को जाता है। विकासशील राष्ट्रों में प्रशासनिक प्रवृत्तियों के परीक्षण के लिये 'अमेरिकन सोसायटी फॉर पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' के अंतर्गत एक तुलनात्मक प्रशासनिक समूह का गठन किया गया। इस समूह ने तीसरी दुनिया के विकासशील राष्ट्रों को विकास प्रशासन के क्षेत्र में अनुसंधान के लिये अपना अध्ययन बिंदु बनाया, साथ ही इन राष्ट्रों की प्रशासनिक समस्याओं (सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवेश के संदर्भ में) के अध्ययन पर अपना ध्यान केंद्रित किया। समूह का अध्यक्ष फ्रेड डब्ल्यू. रिग्स को बनाया गया जिन्होंने अपने प्रयास से विकास प्रशासन को अध्ययन विषय के रूप में स्थापित किया। विकास प्रशासन के प्रतिपादकों में जॉर्ज ग्रांट (अग्रणी), वाइडनर, हैडी, रिग्स, पाइ पानिंदीकर तथा मॉण्टगोमेरी आदि हैं।

विकास प्रशासन का अर्थ
(Meaning of development administration)

विकास या विकासात्मक प्रशासन का अर्थ है- विकास से संबंधित प्रशासन। यह एक विशेष प्रकार के उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक उन्नयन की भावना, एक विशेष कार्यक्रम तथा एक विशेष विचारधारा है। इसके साथ ही विकास प्रशासन को परिवर्तन के उस पक्ष के रूप में भी देखा जाता है जो नियोजित एवं अभीष्ट हो तथा प्रशासकीय कार्यों से निर्देशित हो। विकास प्रशासन में जनता की सेवा के लिये विकास संबंधी कार्यों को संपन्न किया जाता है। यह प्रशासन के स्थूल रूप से उतना संबंधित नहीं है जितना कि उसकी प्रकृति, अभिव्यक्ति, व्यवहार, दृष्टिकोण आदि से। अनेक विद्वानों ने विकास प्रशासन को अपने-अपने तरीकों से परिभाषित किया है, जो निम्नलिखित हैं-

मॉण्टगोमेरी के अनुसार: "विकास सामान्यत: परिवर्तन के ऐसे सामान्य भाग को समझा गया है जो स्थूल रूप से पूर्व-निर्धारित या योजनाबद्ध एवं प्रशासित किया गया हो या कम-से-कम सरकारी क्रिया द्वारा प्रभावित हो।" इसी से उन्होंने विकास प्रशासन को बहुत सीमित क्षेत्र में रखते हुए कहा है कि "विकास प्रशासन अर्थव्यवस्था में योजनाबद्ध परिवर्तन लाता है (कृषि या उद्योग में या इन दोनों में से किसी के सहयोग के लिये पूंजीगत आधार संरचना में) और कुछ कम सीमा तक राज्यों की सामाजिक सेवाओं में (विशेषकर शिक्षा व जन स्वास्थ्य के क्षेत्र में)। यह सामान्यत: राजनीतिक क्षमताओं को बढ़ाने के प्रयत्नों से संबद्ध नहीं है।"

फ्रेड रिग्स के मतानुसार: "विकास प्रशासन उन कार्यक्रमों और परियोजनाओं को पूरा करने के संगठित प्रयासों से संबंधित है, जो विकास के उद्देश्यों की पूर्ति में संलग्न व्यक्तियों द्वारा प्रवर्तित किये जाते हैं।"

प्रो. वाइडनर के अनुसार: "विकास प्रशासन प्रगतिशील, राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक उद्देश्यों के चुनने तथा पूरा करने का साधन है जिसमें ये उद्देश्य आधिकारिक रूप से एक या दूसरे प्रकार से निश्चित किये जाते हैं।"

डोनाल्ड स्टोन के शब्दों में, "विकास प्रशासन निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये संयुक्त प्रयास के रूप में सभी तत्त्वों और साधनों (मानवीय एवं भौतिक) का सम्मिश्रण है। इसका लक्ष्य निर्धारित समयक्रम के अंतर्गत विकास के पूर्व निर्धारण उद्देश्यों की प्राप्ति है।"

विकास प्रशासन की विशेषताएँ
(Features of development administration)

विकास प्रशासन सरकार का कार्यात्मक पहलू है जो लक्ष्योन्मुखी होता है अर्थात् विकास प्रशासन केवल जनता के लिये प्रशासन नहीं है, अपितु यह जनता के साथ कार्य करने वाला प्रशासन है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

- **परिवर्तनशीलता:** विकास प्रशासन परिवर्तन-उन्मुखी प्रशासन है। परिवर्तन से तात्पर्य है कि किसी भी व्यवस्था का एक स्थिति से दूसरी स्थिति की ओर गतिमान होना। अपनी इसी परिवर्तनशीलता की विशेषता के कारण विकास प्रशासन सदैव सक्रिय एवं गतिमान बना रहता है। इसे विकासशील देशों में अधिकाधिक रूप से देखा जा सकता है क्योंकि इन देशों में प्रशासन को निरंतर परिवर्तनों के दौर से गुज़रना पड़ता है।
- **लक्ष्योन्मुखी प्रशासन:** वाइडनर के अनुसार: "विकास प्रशासन **लक्ष्य-अभिमुखी** प्रशासन है। ये सभी लक्ष्य स्वभावत: आगे ले जाने वाले तथा प्रगतिशील होते हैं।"
- **नवाचार:** विविध प्रकार की समस्याओं के समाधान के लिये विकास प्रशासन नए कार्यक्रमों, ढाँचों एवं पद्धतियों पर बल देता है। भारत में सी.ए.डी, डी.आर.डी.ए. आदि कार्यक्रम इन नवाचारों के उदाहरण हैं।

36 भारत में प्रशासन पर नियंत्रण (Control Over Administration in India)

आधुनिक युग में प्रशासन हमारे जीवन से अटूट रूप से जुड़ा हुआ है। आज हमारे जीवन का हर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक; कुछ भी प्रशासन से परे की बात नहीं रही है। साथ ही जब से राज्य ने लोक-कल्याणकारी राज्य का रूप धारण किया है तब से प्रशासन का क्षेत्र और भी विशाल हो गया है। ऐसी स्थिति में प्रशासन की इन शक्तियों पर नियंत्रण रखने की आवश्यकता है। **प्रो. व्हाइट** के शब्दों में- "लोकतांत्रिक समाज में शक्ति पर नियंत्रण आवश्यक है। शक्ति जितनी अधिक है, नियंत्रण की भी उतनी ही अधिक आवश्यकता है।" स्पष्ट प्रयोजनों के लिये पर्याप्त अधिकार किस प्रकार निहित किये जाएँ तथा सत्ता को पंगु बनाए बिना किस प्रकार समुचित नियंत्रण स्थापित किया जाए, यह लोकप्रिय सरकार के समक्ष एक ऐतिहासिक उलझन का विषय है। अत: प्रशासन पर प्रभावशाली नियंत्रण की आवश्यकता स्पष्ट है, जिसके लिये प्रशासन पर निम्नलिखित नियंत्रणों की व्यवस्था की गई है-

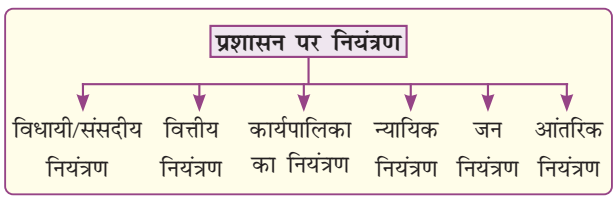

विधायी/संसदीय नियंत्रण (Legislative Control)

संसदीय शासन व्यवस्था में संसद सैद्धांतिक रूप से संघ प्रशासन पर पूरा नियंत्रण रखती है। प्रशासन संविधान के अधीन एवं संसद द्वारा निर्मित विधि (कानूनों) के अनुसार ही चलाया जाता है। संविधान द्वारा निर्धारित सीमाओं के अंतर्गत ही संसद प्रशासन के उद्देश्यों को इंगित करती है। संसदीय नियंत्रण के अभाव में प्रशासकीय क्रियाओं में उचित समन्वय कर पाना संभव नहीं है। नौकरशाही के दोषपूर्ण हो जाने पर सामान्य जनता को अनेक परेशानियों का सामना करना पड़ता है। प्रशासन की असफलता, अकार्यकुशलता, कमियों तथा अनियमितता का आरोप अंततोगत्वा मंत्री अथवा मंत्रिपरिषद के ऊपर ही आता है। अत: प्रशासन पर संसदीय नियंत्रण आवश्यक है। संसद द्वारा यह नियंत्रण मंत्रिपरिषद के माध्यम से रखा जाता है। संसद निम्नलिखित तरीकों से प्रशासन पर नियंत्रण रखती है-

1. **प्रश्न पूछकर (By asking questions):** संसद के प्रत्येक सदस्य को प्रशासन से संबंधित किसी भी विषय पर प्रश्न पूछने का अधिकार है। प्रश्नों की अग्रिम सूचना संसदीय सचिव को दी जाती है। नियमानुसार अध्यक्ष प्रश्नों को उत्तर देने के लिये स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। ये प्रश्न सरकार के प्रशासकीय दायित्वों से संबंधित होते हैं। न्यायालय में विचाराधीन मामलों पर प्रश्न नहीं पूछे जा सकते हैं। संसद में पूछे जाने वाले प्रश्नों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-

प्रश्न के प्रकार	
तारांकित प्रश्न (Starred Questions)	**अतारांकित प्रश्न (Unstarred Questions)**
ये ऐसे प्रश्न होते हैं, जिनका उत्तर प्रश्नोत्तर काल में मंत्री मौखिक रूप से देते हैं एवं इनके संबंध में मूल प्रश्नकर्त्ता व अन्य सदस्य पूरक प्रश्न भी पूछ सकते हैं।	इन प्रश्नों के उत्तर सदन में मौखिक रूप से नहीं दिये जाते हैं एवं इनके संबंध में पूरक प्रश्न भी नहीं पूछे जाते हैं। इन प्रश्नों के उत्तर सदन की टेबल पर रखवा दिये जाते हैं।

इन प्रश्नों के माध्यम से प्रशासन की अकार्यकुशलता एवं प्रशासकीय अक्षमता को सदन एवं जनसाधारण के सम्मुख लाने का प्रयास किया जाता है। विपक्ष के सदस्य मुख्य रूप से प्रश्न पूछने के अधिकार के माध्यम से प्रशासन की कमियों को उजागर करते हैं एवं प्रशासन से संबंधित सूचना प्राप्त करते हैं।

2. **बजट पर वाद-विवाद करना (Debate on budget):** संसद में बजट पारित करने के लिये अलग से सत्र बुलाया जाता है। बजट प्रस्तुतीकरण के पश्चात् फाइनेंस बिल, बजट पर सामान्य वाद-विवाद तथा मंत्रालय विशेष की मांगों आदि पर वाद-विवाद किया जाता है। फाइनेंस बिल पर बहस के समय सदस्य सामान्य रूप से प्रशासन से संबंधित किसी भी मुद्दे को वाद-विवाद के लिये उठा सकते हैं अर्थात् सरकार की किसी भी नीति अथवा प्रशासकीय आदेश का परीक्षण भी कर सकते हैं। मंत्रालय विशेष की मांगों पर वाद-विवाद के समय मंत्रालय की वित्तीय एवं प्रशासकीय नीतियों एवं उनके क्रियान्वयन की आलोचना की जा सकती है।
3. **काम रोको प्रस्ताव अथवा स्थगन प्रस्ताव (Adjournment motion):** यदि संसद के अधिवेशन के दौरान कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना घटित हो जाती है, जिसकी ओर सरकार का ध्यान तत्काल ही आकर्षित किया जाना आवश्यक हो तो सदस्य 'काम रोको प्रस्ताव' प्रस्तावित कर सकते हैं। इस प्रकार के प्रस्ताव सदन के निर्धारित कार्यक्रम को स्थगित करके उस महत्त्वपूर्ण घटना पर विचार-विमर्श करने के लिये रखे जाते हैं। यदि सदन 'काम रोको प्रस्ताव' की अनुमति दे देता है तो माना जाता है कि सदन उस समस्या को गंभीर मानता है।
4. **राष्ट्रपति के उद्घाटन भाषण पर बहस (Debate on inagural speech of the President):** लोकसभा चुनाव के पश्चात् जब सदन की पहली बैठक होती है, उस समय राष्ट्रपति लोकसभा में

37 लोक प्रशासन के अन्य आयाम
(Other Dimensions of Public Administration)

लोक प्रशासन सरकार की नीतियों, कार्यक्रमों एवं परियोजनाओं के निर्माण में सहायता एवं सलाह और उन्हें क्रियान्वयन करने का कार्य करती है। लोक प्रशासन के अन्य आयामों में लोक प्रशासन की महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं की चर्चा की गई है जिसमें अभिप्रेरणा, निर्णय निर्माण, सूत्र, स्टॉफ अभिकरण, संप्रेषण, नेतृत्व और सामान्यज्ञ बनाम विशेषज्ञ सम्मिलित है।

अभिप्रेरणा (Motivation)

अभिप्रेरणा (Motivation) शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द मोवेरे (Movere) से हुई है, जिसका अर्थ है- आगे चलना। अभिप्रेरणा व्यक्तियों को अपने व्यक्तिगत और संगठनात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु प्रेरित करने की प्रक्रिया है। उत्तम राज्य और समाज की स्थापना से अभिप्रेरित प्रशासन महत्त्वपूर्ण साधन है। कोई भी भावना या इच्छा, जिससे व्यक्ति कार्य करने के लिये प्रेरित हो जाए, वह अभिप्रेरणा कहलाती है। अभिप्रेरणा वह प्रक्रिया है जो मानव व्यवहार को लक्ष्य की दिशा में कार्य करने के लिये आंतरिक तथा बाह्य रूप से प्रेरित करती है।

रॉबर्ट डयूबिन के शब्दों में, "अभिप्रेरणा उन शक्तियों का समूह है जो किसी संगठन में एक व्यक्ति को कार्य प्रारंभ करने तथा उन पर बने रहने के लिये प्रेरित करता है।"

प्रो. लोवेल के अनुसार: "अभिप्रेरणा एक ऐसी मनोशारीरिक अथवा आंतरिक प्रक्रिया है, जो किसी आवश्यकता की उपस्थिति में प्रादुर्भूत होती है। यह ऐसी क्रिया की ओर गतिशील होती है, जो आवश्यकता को संतुष्ट करती है।

प्रो. फ्रेंडसन के मतानुसार, "सीखने का सफल अनुभव अधिक सीखने की प्रेरणा देते हैं।"

प्रो. गुड के अनुसार: "किसी कार्य को आरंभ करने, जारी रखने और नियमित बनाने की प्रक्रिया को अभिप्रेरणा कहते हैं।

अभिप्रेरणा की विशेषताएँ *(Features of Motivation)*

अभिप्रेरणा की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

- अभिप्रेरणा एक सतत् एवं गतिशील प्रक्रिया है।
- इसका संबंध मानवीय साधनों से है।
- अभिप्रेरणा का प्रत्येक व्यक्ति के अंदर उदय होता है।
- अभिप्रेरणा मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि है।
- यह मानवीय संतुष्टि का कारण एवं परिणाम दोनों है।

अभिप्रेरणा के उद्देश्य *(Objectives of Motivation)*

अभिप्रेरणा के उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

- अभिप्रेरणा का उद्देश्य संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति करना है।
- यह कर्मचारियों के मनोबल की स्थापना करती है।
- यह मधुर श्रम संबंधों की स्थापना करती है।
- अभिप्रेरणा के द्वारा कर्मचारियों की कार्यकुशलता में वृद्धि लाना है।
- अभिप्रेरणा का उद्देश्य है बाहर से थोपे गए नियंत्रण के स्थान पर कार्मिकों में आत्मनियंत्रण की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करना।
- इसका उद्देश्य कर्मचारियों के मध्य पारस्परिक सहयोग की भावना में वृद्धि करना है।

अभिप्रेरणा का महत्त्व *(Importance of Motivation)*

अभिप्रेरणा के महत्त्व निम्नलिखित हैं-

- अभिप्रेरणा निदेशन का मुख्य सार तत्त्व है। इसका सर्वाधिक महत्त्व कार्य की योग्यता को कार्य करने की इच्छा में परिवर्तित करना है अर्थात् कार्य के प्रति रुचि जाग्रत् करना है।
- अभिप्रेरणा के द्वारा साधनों का अधिकतम उपयोग संभव है।
- अभिप्रेरणा से प्रोत्साहित कर्मचारियों में अनुपस्थिति व काम छोड़कर जाने की प्रवृत्ति में कमी आती है।
- उपक्रम का उद्देश्य कम-से-कम लागत में अधिक-से-अधिक उत्पादन करना होता है, चूँकि उत्पादन पर विक्रय व लाभ निर्भर करता है, अत: श्रेष्ठ व अधिक उत्पादन के लिये आवश्यक है कि कर्मचारियों को अधिक कार्य के लिये अभिप्रेरित किया जाए।
- किसी संगठन की सफलता उसके उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं, अपितु उद्देश्यों को समय पर प्राप्त करने पर निर्भर है। कोई प्रबंधक कितना भी अच्छा माल व मशीन उपलब्ध क्यों न करा दे, जब तक वहाँ के कर्मचारी कार्य करने की इच्छा नहीं रखेंगे, तब तक माल व मशीनों का सदुपयोग नहीं हो सकता। अत: लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु प्रेरणा आवश्यक है।

अभिप्रेरणा की विचारधारा *(Ideology of Motivation)*

अभिप्रेरणा की विचारधाराएँ

परंपरागत	आधुनिक
❑ भय व दंड की विचारधारा	❑ मैस्लो का आवश्यकता सोपान सिद्धांत
❑ पुरस्कार का सिद्धांत	❑ हर्ज़बर्ग का अभिप्रेरणा सिद्धांत

Think IAS

दृष्टि The Vision

Think Drishti

घर बैठे IAS/PCS की संपूर्ण तैयारी करने के लिये आपका स्वागत है

Drishti Learning App

पर

GET IT ON Google Play

अपने एंड्रॉयड फोन पर आज ही इंस्टॉल करें

ऐप की विशेषताएँ

- टीम दृष्टि द्वारा दी जाने वाली सभी सुविधाएँ एक ही मंच पर।
- ऑनलाइन, पेनड्राइव मोड में कक्षाएँ उपलब्ध।
- प्रिलिम्स और मेन्स की टेस्ट सीरीज़ भी ऐप के माध्यम से उपलब्ध।
- सभी पुस्तकें, मैगजीन, डिस्टेंस लर्निंग प्रोग्राम के नोट्स देखने व मंगवाने की सुविधा।

ऑनलाइन कोर्स की विशेषताएँ

- घर बैठे देश के सर्वोत्कृष्ट अध्यापकों से पढ़ने की सुविधा।
- अब दिल्ली या किसी बड़े शहर जाकर पढ़ने की मजबूरी नहीं।
- IAS और PCS के कोर्स उपलब्ध।
- ऑनलाइन कोर्स करने के बाद, क्लासरूम कोर्स में प्रवेश लेने पर शुल्क में विशेष छूट।
- हर क्लास अपनी सुविधा से 3 बार देखने की सुविधा।
- उत्तर लिखकर चेक कराने तथा संदेह-समाधान की व्यवस्था भी शीघ्र उपलब्ध।
- कई विषयों के कोर्स ऑनलाइन और पेनड्राइव मोड में भी उपलब्ध।

दृष्टि आई.ए.एस. (दिल्ली शाखा) का पता
641, प्रथम तल, डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली-09
8448485519, 87501 87501, 011-47532596

दृष्टि आई.ए.एस. (प्रयागराज शाखा) का पता
ताशकंद मार्ग, निकट पत्रिका चौराहा, सिविल लाइन्स, प्रयागराज
8448485518, 8750187501, 8929439702

दृष्टि आई.ए.एस. (राजस्थान शाखा) का पता
प्लॉट नंबर-45 व 45-A, हर्ष टावर-2, मेन टोंक रोड़,
वसुंधरा कॉलोनी, जयपुर राजस्थान-302018
8448485518, 8750187501, 8929439702

दृष्टि लर्निंग ऐप पर उपलब्ध प्रमुख कोर्सेज़

IAS Foundation Course

सामान्य अध्ययन

प्रिलिम्स + मेन्स

- 1200+ घंटों की 500+ कक्षाएँ
- सभी टॉपिक के लिये प्रिंटेड नोट्स
- 3 वर्षों के लिये अन्य विशेष सुविधाएँ

IAS Foundation Course

General Studies

Prelims + Mains

- 400+ Classes of 1000+ hrs.
- Printed Notes of All Segments
- Other special facilities for 3 years

IAS Prelims Course

सामान्य अध्ययन

केवल प्रिलिम्स

- 500+ घंटों की कक्षाएँ
- 'क्विक बुक सीरीज़' की 8 पुस्तकें
- 2 वर्षों के लिये अन्य विशेष सुविधाएँ

IAS + UPPCS + BPSC Optional Subject

हिंदी साहित्य

द्वारा- डॉ. विकास दिव्यकीर्ति

- 400+ घंटों की कक्षाएँ
- पाठ्यक्रम में शामिल सभी पाठ्य-पुस्तकें तथा प्रिंटेड नोट्स
- 145 दैनिक अभ्यास प्रश्न और 18 टेस्ट पेपर (मॉडल उत्तर सहित)

BPSC Prelims Course

बिहार PCS

- 500+ घंटों की कक्षाएँ
- 'BPSC सीरीज़' की 8 पुस्तकें
- 2 वर्षों के लिये अन्य विशेष सुविधाएँ

RAS/RTS Prelims Course

राजस्थान PCS

- 500+ घंटों की कक्षाएँ
- 'RAS सीरीज़' की 8 पुस्तकें
- 2 वर्षों के लिये अन्य विशेष सुविधाएँ

अतिरिक्त जानकारी के लिये 9311406442 नंबर पर कॉल करें या वाट्सएप करें

विज़िट करें www.drishtiIAS.com

अपने फोन पर इंस्टॉल करें Drishti Learning App

641, 1st Floor, Dr. Mukherji Nagar, Delhi-9
Ph.: 011-47532596, 87501 87501
Website: www.drishtiias.com
E-mail: booksteam@groupdrishti.com

ISBN 978-93-909550-8-4

मूल्य : ₹ 480